पुराणों की अमर कहानियाँ

[पुराणों की जीवन-दायिनी ग्यारह अमर पुण्य-कथाएँ]

प्रथम भाग

रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री

प्रथम संस्करण : : १९५७ ईसवी

ढाई रुपए

मुद्रक : रामआसरे कक्कड़
हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

पुराण भारतीय जीवन के पुराने चित्रों के अनुपम संग्रह हैं। इनमें जितनी निपुणता से हमारे देश की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की मोहक चर्चा की गई है, संभवतः उसकी तुलना में कोई अन्य सामग्री उपस्थित नहीं की जा सकती। यों तो यह धार्मिक दृष्टिकोण से रचे गए पवित्र ग्रंथ हैं और सर्वत्र भक्ति, ज्ञान, साधना, जप, तप, उपदेशादि आध्यात्मिक तत्वों के चिन्तन की ही इनमें प्रधानता भी है तथापि लौकिक व्यवहारों के सभी अंगों का वर्णन भी इनमें विपुलता से किया गया है। उदाहरणार्थ—व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, वेदान्त, धनुर्विद्या, स्थापत्यकला, शिल्पविद्या, वास्तु विज्ञान, व्यापार-वाणिज्य, राजनीति, कूटनीति, मूर्तिकला, चित्रकला, सङ्गीत शास्त्र, नृत्यकला आदि ललित-कलाओं एवं जीवनोपयोगी अन्यान्य विद्याओं का भी बड़े आकर्षक एवं सरल-सुगम ढङ्ग से वर्णन किया गया है। पुरानी कहानियों का तो यह सर्वस्व ही है। संभवतः विश्ववाङ्मय में किसी भी समुन्नत समाज की पुरानी सभ्यता एवं संस्कृति का पुराणों की कहानियों जैसा रोचक और मार्मिक वर्णन नहीं मिलेगा। पशु-पक्षियों एवं कीट-पतङ्गों को ही नहीं लताओं एवं वृक्षों को भी इनमें वाणी दी गई है और उनके माध्यम से भी जीवन-दर्शन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने की सफल चेष्टा की गई है।

मानव-जीवन की उपकारक प्रवृत्तियों को जाग्रत एवं क्रियाशील बनाने की प्रेरणा में पुराणों की कहानियाँ बेजोड़ हैं। दया, परोपकार, मैत्री, करुणा, अस्तेय, अपरिग्रह, सत्याचरण, ब्रह्मचर्य, साहस, सरलता, निरभिमानिता, त्याग, संयम, व्रत-उपवास, जप-तप, विविध दान, तीर्थाटन, चित्तवृत्तियों के नियमन आदि प्रसङ्गों पर तो पुराणों की सैकड़ों रोचक कहानियाँ हैं। और वे कहानियाँ ऐसी नहीं हैं, जिन्हें एक कान से सुनकर

दूसरे कान से बाहर निकाल दिया जाय। वे तो ऐसी हैं, जो कानों से प्रविष्ट होकर सीधे हृदय में अपना अधिकार जमा लेती हैं। उनमें श्रद्धा और विश्वास का इतना गहरा रङ्ग होता है कि आज के विज्ञान-युग में भी वह धूमिल नहीं हो रहा है।

यह सत्य है कि आज के बुद्धिवादी युग में पुराणों की भावना-प्रधान कहानियों का भविष्य देखने में धुँधला प्रतीत हो रहा है, किन्तु यह भी सत्य है कि पुराणों की कहानियों में भारतीय जीवन की कुछ ऐसी महत्त्व-पूर्ण वस्तुओं के तत्त्व एकाकार हो गये हैं कि जब तक वे धरती पर रहेंगी तब तक पुराणों की उन भावना-प्रधान कहानियों का भी अस्तित्व बना रहेगा। उदाहरण के लिए काशी, प्रयाग, हरिद्वार, मथुरा, पुरी, द्वारका, रामेश्वरम् , नासिक, अयोध्या, बदरीनाथ, केदारनाथ, गंगासागर प्रभृति तीर्थस्थलों को एवं गंगा, यमुना, गोदावरी, नर्मदा, सिन्धु, गोमती, ब्रह्मपुत्र प्रभृति नदियां तथा हिमालय, विन्ध्य, अमरकंटक प्रभृति पर्वतों को ले सकते हैं। पुराणों में इन सब को लेकर जो रोचक एवं प्रेरणादायिनी कहानियाँ उपनिबद्ध हैं, उनका रंग विज्ञान अथवा बुद्धिवाद की किरणों से मिटाया नहीं जा सकता। फलतः जब तक ये वस्तुएँ रहेंगी तब तक पुराणों की कहानियों का जीवन भी सुरक्षित रहेगा। कोई भी सभ्य एवं समुन्नत जाति अपने पुराने साहित्य की निधियों को फेंक नहीं देती, भले ही आधु-निक सुख-सुविधाओं के कारण उनकी वर्तमान उपयोगिता का मूल्य कुछ कम हो जाता हो। यही कारण है कि अनेक विपरीत कठिन परिस्थियों में पड़कर भी पुराण जीवित रहे। वे परिस्थितियाँ आज के युग में असामान्य ही कही जायँगी। वे ऐसी थीं कि उनमें पुराणों की स्थिति तो दूर पुराणों के मानने-जानने वालों की स्थिति भी संकटों से भरी थी।

पुराण हिन्दुओं के धार्मिक ग्रन्थ हैं। हिन्दू-समाज में वेदों के अनन्तर इन्हीं की प्रतिष्ठा है। कदाचित् ही ऐसा कोई हिन्दू होगा, जो पुराणों की किसी न किसी कहानी की जानकारी न रखता हो। भारतीय विचार धारा का ऐसा एक भी स्रोत नहीं दिखाई पड़ेगा, जिसका आरम्भ

पुराणों की इन कहानियों में न हो। एक प्रकार से समूचा भारतीय वाङ्मय ही पुराणों का ऋणी है। क्या काव्य, क्या कथा-साहित्य—सब में पुराणों की मनोरम कहानियों की छाया स्पष्ट दिखाई पड़ती है। यहाँ तक कि आधुनिक स्वच्छन्द कवि-कल्पनाओं को भी पुराणों की कथाएँ एवं अन्तर्कथाएँ अनवरत जीवन-दान करती दिखाई पड़ती हैं।

पुराणों का अर्थ है पुरानी कहानियाँ अथवा पुराने इतिहास के ग्रन्थ। इनकी रचना का उद्देश्य बताते हुए वेदव्यास ने अनेक स्थलों पर यही कहा है कि—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशोमन्वन्तराणि च।
वंश्यानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम्॥"

अर्थात् पुराणों में सृष्टि, सृष्टि का विस्तार, सूर्य चन्द्रादि प्राचीन राजवंश, एवं स्वायम्भुव आदि मन्वन्तर तथा इतर राजवंशों की कहानियाँ ही संगृहीत की गई हैं। किन्तु आज पुराणों का जो स्वरूप हमारे सम्मुख है, उसमें उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त लौकिक एवं अलौकिक कहानियों का भी जंजाल बहुत अधिक है। उन्हें देखकर यह सन्देह स्वाभाविक रूप में उठता है कि पुराणों में प्रक्षेपों की बहुलता है। बहुत समय तक इनमें अशुद्ध सामग्रियों का मेल भी खूब हुआ है। किन्तु यह तो कहना ही पड़ेगा कि पुराणों का कुछ मूल स्वरूप वेदों से भी पूर्व विद्यमान था। अथर्ववेद में न केवल पुराणों की चर्चा की गई है, प्रत्युत उनकी कथाओं के कतिपय प्रसङ्ग भी उल्लिखित हैं। उपनिषदों, ब्राह्मणों एवं आरण्यकों में तो पुराणों की व्याख्याएँ भी दी गई हैं और कुछ प्रसङ्गों पर उन्हें चारों वेदो के साथ पाँचवाँ वेद बताया गया है। (स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदम् सामवदेमथर्वणम् चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानाम् वेदम्। छान्दोग्य उपनिषद् ७। १। १।) किन्तु इस उल्लेख का यह भी तात्पर्य नहीं समझना चाहिए कि वेदों अथवा उपनिषदों की रचना के समय आज के प्रचलित अठारहों महापुराणों अथवा उपपुराणों का इसी रूप में अस्तित्व था। जिन पौराणिक सन्दर्भों का वैदिक साहित्य में

उल्लेख मिलता है, वे अब अविकल रूप में हमारे सम्मुख नहीं हैं। प्रत्युत समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों एवं संशोधनों से बढ़ते-बढ़ते वही आज के दर्जनों पुराणो में विभक्त हो गए हैं।

किन्तु जहाँ तक कहानियों का प्रश्न है, सम्प्रति उपलब्ध पुराणों में जीवन-दायनी कहानियों की कमी नहीं हैं। सम्भवतः इन्हीं मोहक कहानियों की नकल पर बौद्धधर्म के अनुयायियों ने भी इन्हीं की भाँति जातक कथाओं की परम्परा प्रचलित की थी। क्योंकि पुराणों की कहानियों के सभी गुणों एवं दुर्गुणों की भाँति उनमें भी वैसी ही बातें दिखाई पड़ती हैं, जिन्हें देखकर यह कहना पड़ता है कि यत्र-तत्र बौद्धधर्म की मर्यादा को सुरक्षित रखने का भी ध्यान उन कथाकारों को नहीं रह गया था। बिल्कुल यही स्थिति यत्र-तत्र पुराणों की कहानियों की भी है। पुराणों की कहानियों में सर्वत्र मनोवैज्ञानिक तथ्य, स्वाभाविकता अथवा तर्क-संगत प्रसंगों को ढूँढ़ना उसी प्रकार की मूर्खता है जिस प्रकार से कोई आधुनिक वैज्ञानिक तत्त्वान्वेषी लाखों-करोड़ों भावुक मस्तिष्कों द्वारा पूजित भगवान् विश्वनाथ के पवित्र लिङ्ग-विग्रह में 'देवत्व' की खोज के प्रसंग में, प्राण-वायु का अनुसंधान करे अथवा पितरों के श्राद्धादि प्रसङ्गों में प्रदत्त पिण्डों को चन्द्र लोक तक अपनी आँखों से उड़ते देखने की अभिलाषा करे। भावना और श्रद्धा के पावन प्रतीकों में तर्कों और युक्तियों को प्रश्रय देना मूर्खता नहीं तो और क्या है? गंगा जी की पुण्य जलराशि में स्नानार्थी के पूर्वजों समेत उद्धार करने की क्षमता को चर्म-चक्षुओं से देखना जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार पुराणों की कहानियों में वर्णित अलौकिक तथ्यों के पीछे पड़कर कोई 'पहुँच की बात' निकालना भी दुर्गम है। उनसे हमें केवल इतना ही लेना है कि किसी पौराणिक कहानी के उद्देश्य का हमारे जीवन के किस सन्दर्भ पर सीधा प्रभाव पड़ता है और उसकी अपने हृदय को गहराई से स्पर्श करने वाली उदात्त भावना को हम कहाँ तक अपना सकते हैं। पवित्र देव-विग्रहों अथवा तीर्थादि की भाँति वे भी श्रद्धा, आदर और अपने को पवित्र करने के लिए हैं। मात्र मनोरंजन उनका उद्देश्य नहीं है।

पुराणों की कहानियाँ सोद्देश्य हैं। आधुनिक मनोवैज्ञानिक कहानियों की भाँति उनमें कहानी-कला का प्रदर्शन तो बिल्कुल ही नहीं है। सीधी-सादी भाषा में सांसारिक जीवन को किसी उच्च लक्ष्य पर मोड़ने के लिए ही उनका ग्रन्थन हुआ है। बहुमूल्य सुवर्ण और रजत पात्रों की भाँति वे इसलिए हैं कि एक बार, दो बार किसी विशेष अवसर पर उनका सदुपयोग करके हृदय के किसी कोने में सहेज कर रख दिया जाय और वैसा ही समय पड़ने पर फिर उन्हें उपयोग में लाया जाय। मिट्टी अथवा शीशे के, रंग-बिरंगी कलापूर्ण चित्रकारी से समलंकृत बाजारू पात्रों की भाँति उनका जीवन क्षुद्रकालव्यापी नहीं है। उनकी गढ़न, गंभीरता अथवा सादगी के सम्मुख नई कहानियाँ अपनी साज-सज्जा एवं कल्पना-वैचित्र्य के कारण बाहर से अधिक आकर्षक प्रतीत होंगी, किन्तु क्या क्षणिक आकर्षण के वशीभूत होकर शीशे और मिट्टी के नेत्ररंजक पात्रों को रखकर, अपने सोने-चाँदी के बहुमूल्य पात्रों को नष्ट कर दिया जाता है? नहीं, ऐसा करना निरी मूर्खता अथवा पागलपन समझा जाता है। ठीक उसी प्रकार हमारी इन प्राचीन किन्तु पवित्र एवं प्रेरणाप्रद कहानियों को भी हृदयङ्गम किया जा सकता है। इनमें हमारी प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के उन मूल्यवान उपादानों का मिश्रण है, जिनके कारण हम आज भी अपनी छाती गर्व से फुला सकते हैं। जिस प्राचीन भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति ने किसी समय विश्व के हृदय में ऊँचा और आदर का स्थान प्राप्त किया था, जिसने भूमण्डल के अधिकांश प्रदेशों को अपने अमिट रङ्गों में रंजित कर दिया था, वह आज भी इन कहानियों की रग-रग में मूर्तमान है, जीवित है और हमें इस वैज्ञानिक चकाचौंध में भी प्रेरणा देने की पर्याप्त शक्ति रखती है। हमारी वह मूल्यवान धरोहर इनमें सुरक्षित है।

आज के इस वैज्ञानिक युग में भी हम अपनी पुरातत्त्व-प्रियता जताने के लिए अथवा अपनी प्राचीन संस्कृति की उच्चता सिद्ध करने के लिए हजार-दो हजार वर्ष की पुरानी मिट्टी की टूटी-फूटी हँड़िया तथा ठीकरों को भी हजारों रुपये एवं वर्षों के श्रम से खोजकर बड़ी सुरक्षा से रखते हैं। ससम्मान

शीशे की आलमारी में बन्द करके ताला लगा देते हैं और ऊपर से उसका संक्षिप्त परिचय मात्र देते हैं। तब फिर हम अपनी इन मूल्यवान किन्तु सर्वत्र सुलभ निधियों को उपेक्षा से क्यों देखें ? इनका मूल्य तो इस समय भी बहुत अधिक है। ये तो सभी दृष्टियों से उन ठीकरों या हँड़ियों की अपेक्षा मूल्यवान हैं। इनके निर्माण में लगे हुए सुवर्ण अथवा रजत का भाव तो आज पहले से बहुत अधिक हो गया है। ये सङ्कट के समय हमारे जीवन की रक्षा करने में भी पूर्ण समर्थ हैं। अतः इनको ध्यानपूर्वक सुरक्षित रखना हमारा परम कर्तव्य है।

इसी उद्देश्य से मैंने पुराणों की इन कहानियों का ग्रन्थन किया है। पुराणों में कहानियाँ तो इतनी अधिक हैं कि ऐसी-ऐसी सैकड़ों पुस्तकें तैयार हो सकती हैं। अतः हमने इन संग्रहों में केवल ऐसी ही कहानियाँ रखी हैं, जो आज के बहुव्यस्त एवं वैज्ञानिक सुख-सुविधाओं से सम्पन्न मानव-जीवन में भी मानवता को ऊँचा उठाने वाली श्रद्धा के एकाध अंकुर उत्पन्न कर सकें तथा स्वल्प मात्रा में मनोरंजन एवं कुतूहल की शान्ति के साथ-साथ जीवन-प्रवाह में किसी उच्चादर्श की प्रतिष्ठा करा सकें। इन कहानियों का अमर ढांचा तो पुराणों का ही है किन्तु इनकी रूप-रेखा के निर्माण में मेरे अनुभवहीन हाथों ने भी कुछ इधर-उधर किया है। कहीं यदि कोई नवीन कल्पना प्रांसगिक जान पड़ी है तो मैंने उसे जोड़ना अपराध नहीं समझा है। कथोपकथन एवं संवादों में भी पुराणों की शब्दावली नहीं रखी गई है। अतएव यदि कोई पण्डितम्मन्य विद्वान पुराणों में वर्णित मूलकथाओं से इनकी तुलना करेंगे तो उनका अमर्ष स्वाभाविक हो सकता है। आज के समाज के उपयुक्त रूप-रंग देने के लिए ही मैंने यह धृष्टता की है। पुराणों को विद्रूप करना मेरा उद्देश्य नहीं है, मैंने तो उनके पुराने एवं उपेक्षित ढांचों को इस नए रूप में प्रस्तुत करने का ही प्रयत्न किया है। ज्ञात नहीं, इनकी रूप रंग-रचना का मेरा यह उद्देश्य कहाँ तक सफल हुआ है ?

यह कहानियों का युग है, बच्चे से लेकर बूढ़े तक-सभी कहानियाँ पढ़ते हैं अथवा यूँ कहिए कि पढ़ने के लिए विवश किए जाते हैं। क्योंकि

कोई भी समाचार पत्र, साप्ताहिक अथवा मासिक पत्र-पत्रिका कहानी के विना उसी तरह सूनी लगती है जैसे धन-धान्य से भरी-पुरी गृहस्थी किसी सुन्दरी के विना सूनी दिखाई पड़ती है। सामान्य पाठक पहले कहानी पढ़ता है, बाद में और कुछ। अतएव कहानियों की इस बढ़ती लोक-प्रियता को देखकर यदि हमने पुराणों के ढाँचों को नया रूप-रंग देकर कहानियों के रूप में प्रस्तुत कर दिया है तो कोई अपराध नहीं हुआ है। इन कहानियों में मानव-जीवन को समुज्ज्वल बनाने की अमोघ शक्ति है। पावन भ्रातृत्व, विश्वबन्धुत्व, देश-प्रेम, त्याग, वलिदान, मैत्री, करुणा, परोपकार, जीव-दया, राज-धर्म, नैतिकता, तपस्या, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, सत्याचरण, सादगी, निर्लोभिता, दान-परायणता आदि भारतीय उच्चादर्शों के मोहक आवरण में प्रस्तुत ये कहानियाँ आप को केवल मनोरंजन ही नहीं देगीं प्रत्युत इसी बहाने कुछ अन्य उत्तम वस्तुएँ भी इनसे आपको प्राप्त होंगी। इनका अवगाहन आपके मानसिक अवसाद को अवश्यमेव दूर करेगा।

इस ग्रन्थमाला में केवल ऐसी ही पौराणिक कहानियाँ दी गई हैं, जो मानव-जीवन को संस्कृत और समन्नत बनाने वाली हैं और प्रकारान्तर से हमारे इस महान देश के गौरवशाली अतीत का मोहक किन्तु प्रेरक चित्र प्रस्तुत करनेवाली हैं। इनके पात्र प्रायः सभी पुराणों में प्रख्यात व्यक्तित्व ही नहीं हैं, अधिकांश ऐसे भी हैं, जिनसे हमारा चिरकाल का परिचय है। जिनके पुण्य-स्मरण हमारे मानस को स्वतः प्रेरणा एवं स्फूर्ति देने वाले हैं और जिनके सम्बन्ध की अनेक दन्तकथाएँ हम बराबर सुनते रहते हैं। हमारा ध्यान है कि इस ग्रन्थमाला में पुराणों की शताधिक कहानियाँ तो आनी ही चाहिएँ। यह प्रथम भाग है, जिसमें ग्यारह कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें से कुछ कहानियाँ हिन्दी की सुप्रसिद्ध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं और पाठकों की ओर से लेखक को पर्याप्त उत्साह भी मिला है। इनके ग्रन्थन की प्रेरणा का यही संबल रहा है।

इन कहानियों की भाषा यत्र-तत्र पौराणिक कथावस्तु के चित्रण एवं पुराण-प्रख्यात पात्रों की उपस्थिति के कारण कुछ अलंकृत अथवा भारी है।

शैलीगत वैयक्तिक विशेषता भी इसका एक कारण है, जो कि अनिवार्य थी। हमें विश्वास है, हमारे पाठकों को इससे कोई बाधा नहीं पड़ेगी। देव-वाणी के बंद मन्दिरों में प्रवेश करने की अपेक्षा तो इसके अवगाहन में उन्हें तनिक भी कठिनाई न प्रतीत होगी।

इस ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में ग्रथित इन ग्यारह कहानियों का यह क्रम हिन्दी पाठकों को यदि तनिक भी रुचिकर और उपादेय प्रतीत हुआ तो हम अपने परिश्रम को सफल मानेंगे और उत्साहपूर्वक अगले भागों को यथाशीघ्र उनके हाथों में दे सकेंगे।

अन्त में हम साहित्य भवन लिमिटेड के प्रधानमंत्री सुहृद्वर श्री पुरुषोत्तम दास जी टण्डन (राजा मुनुआ जी) तथा उसके संचालक मित्रवर श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी जी को हार्दिक धन्यवाद देते हैं, जिनके प्रोत्साहन, प्रेरणा, एवं सत्सहयोग से इस ग्रन्थमाला की यह प्रथम पुस्तक इस रूप में प्रकाशित हो रही है। उनके ऐसे ही सहयोग और प्रेरणा से इसके अगले भाग शीघ्र ही प्रकाशित हो सकेंगे।

प्रकाश-निकेतन
(कृष्णगंज)
कीटगंज, इलाहाबाद
सोमवार, महाशिवरात्रि, २०१३

रामप्रताप त्रिपाठी

पितृतुल्य समादरणीय

पण्डित श्री रामनरेश जी त्रिपाठी

के

कर-कमलों में

कहानियों का क्रम

त्र्यरुण का पश्चात्ताप

सूर्यवंश में महाराज इक्ष्वाकु पुराण प्रसिद्ध राजा थे। इन्हें ही सूर्यवंश का सर्वप्रथम सम्राट् कहा जाता है। इनकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में पुराणकारों ने विचित्र कल्पनाएं की हैं। कुछ पुराणों का मत है कि एक बार सूर्यपुत्र महाराज मनु के छींकते समय उनकी नासिका से इनकी उत्पत्ति हुई थी। इसी कारण से इनका 'इक्ष्वाकु' नाम रखा गया था। राजा इक्ष्वाकु की राजधानी अयोध्या थी। पिता द्वारा प्राप्त राज्य को राजा इक्ष्वाकु ने बहुत विस्तृत किया और एक प्रकार से सूर्यवंशी साम्राज्य की नींव उन्होंने ही डाली। इसीलिए पुराण कर्त्ताओं के मत से इन्हें सूर्यवंश का प्रथम 'वंशकर्त्ता' भी माना गया है।

राजा इक्ष्वाकु के अनन्तर सूर्यवंश में अनेक पराक्रमी तथा परोपकारी सम्राट हुए, जिनमें से अनेक की मनोहर कथाओं का पल्लवन पुराण कर्त्ताओं तथा संतों ने किया है। एक प्रकार से राजा इक्ष्वाकु की यह वंश परम्परा पुराण प्रख्यात नरेशों की एक लंबी शृंखला ही उपस्थित करती है। विकुक्षि, परंजय, अनेना, पृथु, वृषगश्व, आर्द्र, युवनाश्व, श्रावस्त वृषदश्व, कुवलयाश्व (धुन्धुमार), दृढाश्व, वार्यश्व, निकुम्भ, संहताश्व, कुशाश्व, प्रसेनजित्, युवनाश्व, मान्धाता, पुरुकुत्स, त्रसदस्यु, सम्भूत, अनरण्य, पृषदश्व, हर्यश्व, सुमना, त्रिध्वज (त्रिवृष्ण), त्र्यरुण, सत्यव्रत (त्रिशंकु), हरिश्चन्द्र, रोहिताश्व, हरितचंचु, विजय, ससक, वृक, वाहु, सगर, असमंजस, अंशुमान्, दिलीप, भगीरथ, श्रुत, नाभाग, अम्बरीष सिन्धुद्वीप, अयुताश्व, ऋतुपर्ण, सर्वकाम, सुदास, सौदास, (कल्माषपाद), अश्मक, मूलक, दशरथ, इलिविल, विश्वसह, दिलीप, (खट्वांग), दीर्घवाहु, रघु, अज, दशरथ, तथा रामचन्द्र (लक्ष्मण, भरत एवं शत्रुघ्न) आदि महापुरुष क्रमशः एक के बाद एक अयोध्याधिपति हुए। इस नामावली में ऐसे अनेक पुराणपरिचित नाम हैं, जिनकी वीरता, धीरता, परोपकारिता एवं शौर्य

की मोहक कथाएं, भारतीय जीवन में आज भी प्रेरणा देनेवाली हैं। ये नाम इक्ष्वाकु वंश के केवल उन राजाओं के हैं, जिन्होंने अयोध्या की गद्दी पर बैठकर देश का शासन किया। इनके सैकड़ों सहस्रों भाइयों एवं उनके वंशधरों में से भी अनेक की मनोरंजक कथाएं पुराणों में दी गई हैं।

इसी पुराण-प्रख्यात इक्ष्वाकुवंश की सत्ताईसवीं पीढ़ी में महाराज त्रिध्वज अथवा त्रिवृष्ण पैदा हुए थे। महाराज त्रिवृष्ण अपने पराक्रमी पूर्वजों की यशश्चन्द्रिका के शुभ्र-प्रकाश में सुख-शान्ति से जीवन बिताने वाले एक परोपकारी शासक थे। उन्होंने अपने जीवन में न तो कोई युद्ध किया और न किसी पड़ोसी राजा द्वारा ही उन्हें उपद्रुत होना पड़ा। उनकी शान्ति नीति का देश की जनता पर ऐसा गहरा प्रभाव था कि छल-छिद्र और ईष्या-द्वेष की बुद्धि त्यागकर लोग सौहार्द्र और सहानुभूति से एक दूसरे को आदर देते थे और सभी कार्यों में सहयोग और सौमनस्य की भावना से कार्य करते थे। राजा त्रिवृष्ण के व्यक्तिगत गुणों की यह छाप समस्त अयोध्या के राज्य पर ही नहीं पड़ी थी, वरन् पड़ोस के राजाओं और जनता के हृदय पर भी इसका गहरा प्रभाव था। इनके समय में पड़ोस के राजा लोग परस्पर मैत्रीभाव से रहने लगे थे और एक दूसरे के सुख-दुःख और सम्पत्ति-विपत्ति में हृदय खोलकर सम्मिलित होने लगे थे। अन्य राज्यों के सीमावर्ती प्रदेशों में जहाँ परस्पर भय और ईर्ष्या, आक्रमण और सुरक्षा की चिन्ता व्याप्त रहती थी वहाँ त्रिवृष्ण के राज्य में हर्ष और उल्लास के साथ समृद्धि और उन्नति की दिशा में अग्रसर होना ही जनता एवं शासन की एक मात्र चिन्ता रह गयीं थी। यज्ञ-यागादि के पावन प्रसंगों में अनुरक्त प्रजावर्ग की कल्याण कामना से सर्वत्र धरती और अकाश में शान्ति की छटा छाई हुई थी। समय पर वृष्टि होती थी, प्रत्येक ऋतुएं अपने नित-नूतन उपहारों से धरती को बोझिल बना देती थीं और वायु की शीतल मंद लहरें अपनी सुगन्धि से पृथ्वी भर में सुख-शान्ति का सन्देश बाँटती थीं।

राजा त्रिवृष्ण के वानप्रस्थ ग्रहण कर लेने के अनन्तर उनके सुयोग्य पुत्र त्र्यरुण अयोध्या के शासक हुए। त्र्यरुण बालजीवन से ही स्फूर्तिवान,

पराक्रमी, प्रतिभाशाली तथा चंचल प्रकृति के थे। इक्ष्वाकुवंश के प्रचण्ड पराक्रम और वीरता की कथाएँ उनके बालमानस में ही समाविष्ट हो चुकी थीं और वे उस दिन की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहे थे जब समस्त भूमण्डल में उनके पराक्रम और ऐश्वर्य की दुन्दुभि बजने लगे। निदान जब त्र्यरुण का राज्याभिषेक हुआ और राजा त्रिवृष्ण वन में चले गए तो त्र्यरुण को अपनी चिरवांछित अभिलाषा पूरी करने की उतावली पड़ गई।

राजा त्र्यरुण और उनके पुरोहित के पुत्र वृशजान में बाल्यकाल से ही परस्पर अटूट मैत्री थी। दोनों समवयस्क ही नहीं थे, शरीर रचना और सद्‌गुणों में भी समान थे। जब से उन दोनों ने होश संभाला था, तभी से उनका अटूट साथ था। एक साथ खेलना, कूदना, पढ़ना, शिकार खेलना, शस्त्राभ्यास करना और दिन का भोजन करना। पृथक् पृथक् निवास की व्यवस्था होने के कारण दोनों केवल रात्रि की कुछ घड़ियाँ ही अलग बिता पाते थे और वह भी उनके लिए पहाड़-सी हो जाती थीं। दोनों के नवयौवन की यह सुनहली मैत्री स्वर्ग के समस्त दुर्लभ पदार्थों से भी बढ़कर कल्पनापूर्ण और सुखमयी थी। दिन में दोनों क्षण भर के लिए भी एक दूसरे से अलग नहीं रह सकते थे। त्र्यरुण यदि स्फूर्तिवान्, वीर, महारथी, पराक्रमी, परिश्रमी तथा पर-दुःख कातर था तो वृशजान की तीक्ष्ण प्रतिभा और गहन पाण्डित्य के साथ उसका सबके संग सहज निष्कपट व्यवहार तथा विमल हास्य अनायास ही मन मोह लेता था। दुःखद-दारुण प्रसंगों को भी अपनी मनोमोहक उपस्थिति से वह आकर्षक बना लेता था। सर्वदा परोपकार एवं गुरुजनों के प्रति अपार आदर भावना की चर्चा के साथ उसे सबकी ओर से अमोघ आशीर्वाद भी मिलते थे। राजकुमार त्र्यरुण के साथ राजनीति के कार्यों की विवेचना के समान ही वह ऋषियों तथा मुनियों का भी परामर्शदाता था और यौवन काल में ही उसे मंत्रद्रष्टा ऋषि की संज्ञा से सम्मानित किया जा चुका था।

इस प्रकार राजकुमार त्र्यरुण की निर्भय वीरता, पराक्रम एवं

कार्यपटुता तथा वृशजान की अलौकिक प्रतिभा, व्यावहारिकता एवं पांडित्य से अयोध्यावासियों को यह विश्वास हो गया था कि शीघ्र ही उनके और भी अच्छे दिन आने वाले हैं। हुआ भी ऐसा ही। राज्याभिषेक के थोड़े ही दिनों बाद त्र्यरुण ने वृशजान की सम्मति से दिग्विजय के लिए अभियान का निश्चय किया और समस्त प्रजावर्ग ने हृदय से उनके कार्य का अनुमोदन किया।

चतुर्दिक की शान्ति एवं सन्तोष की नीरवता को भंग करने वाली त्र्यरुण की चतुरंगिनी ने जब अयोध्या से अभियान के लिए प्रस्थान किया तो नगरवासी वृद्धों, मंगलवाचकों तथा पुरांगनाओं ने दिग्विजय के गीत गाए और आशीर्वचन कहे। संख्यातीत स्यन्दनों, अश्वों एवं गजराजों की संयुक्तध्वनि के साथ पदाति सेना के हर्षोद्‌गारों एवं जय-जयकार से दिशाओं के कान भर गये, गिरि-गह्वर गूंज उठे, सीमान्त समुद्र की विक्षुब्ध लोल लहरें उद्वेलित हो उठीं और धरती कसमसाने लगी। राजमार्गों में दरारें पड़ गयीं और पगडंडियों ने ग्रीष्म की क्षुद्र नदियों का सा रूप धारण कर लिया। मार्ग के नद, नदी, सरोवर और वन-उपवन सूख-से गए। परिणाम यह हुआ कि जहाँ कहीं महाराज त्र्यरुण गए वहाँ सर्वत्र सीमान्त राज्यों के निवासी दो योजन दूर से ही अपने शासकों के साथ उपायनों की ढेरियाँ ले-लेकर उनकी और पुरोहित वृशजान की वंदना के छन्द कण्ठस्थ करने लगे। इस प्रकार स्वल्प काल में ही बिना किसी युद्ध-प्रयास के महाराज त्र्यरुण ने अपनी दिग्विजय की यात्रा सम्पूर्ण करके राजधानी अयोध्या को वापस लौटने का निश्चय किया।

महाराज त्र्यरुण और पुरोहित वृशजान एक ही महारथ पर समासीन थे। उनकी सम्पूर्ण दिग्विजय की यात्रा रक्तविहीन रही। दिन भर में अधिक से अधिक प्रदेश का विचरण कर वे रात्रि में जहाँ अवस्थान करते वहीं उनका स्वागत होता, बहुमूल्य भेंटें दी जातीं, अधीनता स्वीकृति की आदरणीय शर्तों पर विजयदुन्दुभी बजायी जाती और मांगलिक संगीत तथा नृत्य के मोहक अयोजन रचे जाते। प्रतिदिन नूतन उल्लास का वातावरण

अपने आप ही रच उठता और सैनिकों तथा श्रमिकों समेत सब के श्रम और खेद स्वतः मिट जाते। दूसरे दिन के प्रातःकाल की अरुणिमा के साथ ही सबको सद्यःस्फूर्ति मिल जाती और बंधे-बंधाए कार्यक्रमों के साथ अगले दिन की विजय यात्रा पुनः आरम्भ हो जाती। धनाध्यक्ष कुबेर की उत्तर दिशा से आरम्भ कर महाराज त्र्यरुण ने क्रमशः पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की दिशाओं में अपना अभियान अनवरत जारी रखा। सम्पूर्ण दिग्विजय यात्रा में कहीं भी कोई प्रतिद्वन्द्वी उन्हें नहीं दिखा। बाधा डालना तो दूर यात्रा भर में कर्कश वचन सुनने की भी स्थिति नहीं आई। पुरोहित वृशजान का निर्धारित मंगलमुहूर्त्त अखर्वित रहा। इस प्रकार दिग्विजय का पूर्व निश्चित कार्यक्रम समाप्त कर चतुरंगिनी अपने नायकों के संग अयोध्या के पथ की ओर वापस चल पड़ी।

चारों ओर अपार हर्ष था। लाखों सैनिकों के हर्ष एवं उल्लास से भरी जय-जयकार की ध्वनि से धरती गूंज उठी, दिशाएं व्याकुल हो गयीं, और आकाश की निस्तब्धता समाप्त हो गयी। महाराज त्र्यरुण के दिग्विजय के इस उन्मद सन्देश को थोड़े ही दिनों में वायु की लोलतरंगों और सीमा-वर्ती समुद्रों की चंचल लहरों ने सातों महाद्वीपों में फैला दिया। इस प्रकार समस्त भूमण्डल त्र्यरुण की वीरता एवं वृशजान की बुद्धिमत्ता के गुणगान में झूम उठा। यह सन्देश जब अयोध्या पहुँचा तो राजधानी में पश्चिम की ओर से वापस होने वाले राजमार्ग पर जगह-जगह स्वागत के विशाल बहुमूल्य तोरण बनाए गए, राग-रंग रचा गया और दिग्विजयी महाराज त्र्यरुण और पुरोहित प्रवर वृशजान के हार्दिक स्वागत की तैयारियाँ की गयीं। जिधर देखिए उधर से ही सहस्रों उत्सुक आँखें त्र्यरुण और वृशजान को अपने में बन्द कर लेने की उत्सुकता में उन्मन हो उठीं। कोई स्वागत का नवीन गीत कण्ठस्थ कर रहा था तो कोई मनोहर चित्र रचना के द्वारा अपने हृदय के संचित आनन्द को बाहर उड़ेल रहा था। अयोध्या के गृहों की दीवारें भी दोनों मित्रों के चित्रों से मुखर हो रही थीं और मांगलिक वाद्यों की ध्वनियों में स्वागतार्थ रचे गए कवित्वपूर्ण गीतों के लय स्पष्ट हो

रहे थे। सारी अयोध्या नगरी ही नहीं, सम्पूर्ण राज्य अपनी अपार प्रसन्नता के पारावार में हिलोरें ले रहा था।

आखिरकार वह मंगलवेला भी आ गयी। अयोध्या अपने अपूर्व वैभव और ऐश्वर्य की जिस निराली छटा को देखने के लिए बहुत दिनों से उदग्रीव हो रही थी, वह अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी। योजन दूर से ही जय-जयकार की गगनभेदी ध्वनि जब अयोध्या के प्राचीरों में मुखरित हुई तो सम्पूर्ण राजधानी का कण-कण विस्फुरित हो उठा। अपार हर्ष और उल्लास की इस मादक वेला में अयोध्या के बाल-वृद्ध और नर-नारी चमत्कृत हो उठे। आनन्दातिरेक की चंचल लहरों में सबके सब तरंगित थे।

अयोध्या पागल बनी हुई थी। राजमार्गों की दशा तो दूर वीथिकाओं और पगडंडियों पर भी इतनी अपार भीड़ थी कि किसी का इधर से उधर निकलना सुगम नहीं रह गया था। अन्ततः जब महराज का स्यन्दन, राज प्रासाद की ओर चला तो यातायात की दृढ़ सुव्यवस्था के विपरीत, भीड़ की अधिकता के कारण उसका एक पग भी आगे बढ़ना कठिन हो गया। स्यन्दन जब तनिक भी रुक जाता तब पुष्प-वृष्टि के साथ महाराज की जय ध्वनि से आकाश और दिशाएं कम्पित हो उठतीं। आगे पीछे, दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे सर्वत्र अपार जनसमुद्र था। न कोई आगे बढ़ सकता था, न पीछे हट सकता था। योजन दूर से ही ऐसी दशा थी। आखिरकार मध्य राज-मार्ग में महाराज का स्यन्दन जब रुक गया और सैनिकों तथा राजपुरुषों के लाखों प्रयत्नों के बाद भी कोई विशेष सफलता नहीं मिली तो वृशजान चिन्तित हो उठे। स्यन्दन की पीठिका से उठकर वह सारथी के समीप आकर खड़े हो गए। और अत्यन्त विनय किन्तु अनुशासन के गंभीर स्वर में महा-राज के स्यन्दन को आगे बढ़ने का मार्ग देने के लिए जनता से हार्दिक अनुरोध किया। वृशजान को देखते ही लाखों कण्ठ पुनः सस्वर हो उठे, जय जयकार की गगनभेदी ध्वनि से दिगन्त पुनः बोझिल हो उठा। किन्तु क्षण भर बाद ही स्यन्दन को आगे बढ़ने का मार्ग मिल गया और वह धीमी गति से राजप्रासाद की ओर आगे बढ़ने लगा।

फिर तो सारथी के स्थान पर बैठकर वृशजान ने स्यन्दन की बाग-डोर अपने ही हाथों में संभाल ली। इस सुन्दर दृश्य ने जनता के हर्ष को एक बार फिर उद्वेलित किया। तुमुल जयध्वनि ने एक बार फिर धरती को आकाश तक उछाल दिया। महाराज त्र्यरुण अपने मित्र के इस समादर को देकर हर्षविह्वल हो उठे। अपनी मन्द मुस्कान एवं परिहास के स्वर से उन्होंने वृशजान को अनुगृहीत करते हुए कहा—'सुहृद्वर। निश्चय ही अयोध्या की इस अपूर्व सफलता में तुम्हारा ही हाथ है। मैं तो केवल निमित्त बना रहा। देखो न, जनता तुम्हें ही अपने लाखों नेत्रों में एक साथ ही भर लेना चाहती है। मेरी ओर तो कोई देख भी नहीं रहा है।'

वृशजान बिना किसी ओर देखे ही स्यन्दन की बागडोर को ऊपर घुमाते हुए धीर गंभीर वाणी में बोल पड़े—'महाराज। कृपाकर आप जहां हैं, वहीं छत्र और चामर की ओट में बैठे रहें, अन्यथा अनर्थ हो जाने की पदे-पदे सम्भावना है। इधर आपको देखने के लिए यह समस्त जन-समुद्र विक्षुब्ध हो रहा है। किसी प्रकार राजप्रासाद के गोपुर तक हम स्यन्दन ले चलें तभी आप अपनी जगह से हिलें डुलें।' पुरोहित की मर्मभरी वाणी ने महाराज त्र्यरुण को हर्षोन्मत्त बना दिया, वह मुस्कराते हुए अपने आसन पर झूमने लगे।

ज्यों-ज्यों स्यन्दन आगे बढ़ा त्यों-त्यों राजमार्ग के सब ओर अपार जनसमुद्र देखकर तथा कर्णभेदी स्वरों से उपद्रुत स्यन्दन के अश्वों की चंचलता दसगुनी हो गयी थी। मार्ग न मिलने से पुरोहित वृशजान ने उनकी बाग-डोर संभाली थी तभी से वे अपरिचित होने के कारण उन्मत्त-से हो उठे थे। अतः वृशजान के बारम्बार बागडोर खींचते रहने पर भी किसी प्रकार वे वश्य नहीं हो सके और अत्यन्त वेग से दौड़ते हुए राजप्रासाद को जाने वाले राजमार्ग पर आगे बढ़ने लगे। सारथी घबराया हुआ था, महाराज त्र्यरुण भी अनर्थ की संभावना से सशंक थे, वृशजान को कुछ सुझाई ही नहीं पड़ रहा था और दर्शक भी चिन्तित हो उठे थे। एक-एक क्षण युग-से बीत रहे थे। पूरा बल लगाकर खींचने पर भी बागडोर का कुछ प्रभाव

नहीं पड़ रहा था। अश्वों का दुर्निवार वेग अपनी चरम सीमा पर था, व क्षणभर में ही राजप्रासाद को अपने सम्मुख देखने के लिए मानों सब कुछ करना चाहते थे। इसी बीच महान् अनर्थ हो गया। एक सोलहवर्षीय ब्राह्मण कुमार स्यन्दन के चक्रों की चपेट में पड़कर पिस गया। अश्वों की बलिष्ठ खुरों से विदीर्ण उसके सुन्दर शरीर को स्यन्दन के अनेक चक्रों ने अपनी द्रुतगति में अत्यन्त आहत कर डाला। देखते ही देखते उस कमनीय ब्राह्मण कुमार का शरीर निष्प्राण-सा होकर नीचे गिर पड़ा। क्षण भर में ही उसका छटपटाना भी बन्द हो गया। एक क्षीण चीत्कार के सिवा समीपस्थ लोगों को भी उसके समीप से कुछ सुनाई नहीं पड़ा। अश्वों की गति मन्द हो गई क्योंकि स्यन्दन के चक्कों में फँसकर ब्राह्मण कुमार की मोटी मोटी जांघों की अस्थियों और मांस पिण्डों ने बलवान अश्वों के पराक्रम को भी क्षीण कर दिया था।

भयकातर सारथी के करुण हाहाकार ने वृशजान को जब स्तम्भित कर दिया तो उनकी आँखें भी उस ब्राह्मण कुमार के धरती पर पड़े हुए शिथिल शरीर पर पड़ीं। तब तक स्यन्दन पूर्ण रूप से रुक चुका था। भयंकर चीत्कार के साथ वृशजान स्यन्दन से नीचे कूद पड़े। उक्त ब्राह्मण कुमार कोई दूसरा नहीं, उन्हीं के सगोत्रीय वृद्ध पड़ोसी का एकलौता लाड़ला बेटा और उनका प्रियपात्र था। उसके सर्वांग सुन्दर कमनीय कलेवर की यह भीषण दुर्गति देखकर वह विकम्पित होकर रुदन करते हुए विद्युतगति से महाराज त्र्यरुण के समीप स्यन्दन पर पहुँचे और करुण स्वर में बोले—

'महान् अनर्थ हो गया महाराज! हमारी उल्लासपूर्ण दिग्विजय यात्रा कलंकित हो गयी। स्यन्दन के चक्कों के नीचे एक सोलह वर्षीय ब्राह्मण कुमार दब गया। उसके वृद्धमाता पिता मेरे पड़ोसी ही नहीं सगोत्रीय हैं महाराज! वह मुझे भी अतिप्रिय था। ऐसा होनहार, सुन्दर और बलवान कोई दूसरा नवयुवक हमारे पुर में नहीं था। शोक! अब क्या किया जाय।' वृशजान की सांसें रुक-रुककर चल रही थीं, कण्ठ सूख गया था, हृदय काँप रहा था, आँखें विह्वल थीं और माथे पर छाई हुई पसीनें की बूँदें नीचे टपक रही थीं।

इस भीषण विपदा का दु:संवाद सुनते ही महाराज त्र्यरुण घबरा गए। ब्रह्महत्या जैसे अमिट कलंक की कालिमा का स्मरण करते ही उनकी अमल बुद्धि मन्थर हो गयी। विवेक छूट गया और भावी अनर्थ की दुष्कल्पना में उनके मुंह से अकस्मात् निकल पड़ा—'वृशजान। इस अमिट कलंक के कारण आप ही तो हैं। सारथी के हाथों से बागडोर छीनकर आपने अश्वों को उपद्रुत कर दिया। अनुभव न होने पर भी केवल अपनी बहुज्ञता प्रदर्शित करने के लिए ऐसी भयंकर भीड़-भाड़ में यदि स्यन्दन को चलाने का दु:साहस आपने न किया होता तो यह कुछ न होता। हन्त। अब क्या किया जाय।' महाराज का स्वर बहुत रुक्ष हो गया था और श्वास गति तीव्र हो चली थी।

महाराज त्र्यरुण की इस मर्मभेदिनी वाणी ने क्षण भर में ही वृशजान के मर्मस्थल को छिन्न-भिन्न कर डाला। यद्यपि जीवन भर की संचित सहानुभूति एवं सुहृदता को एक क्षण में ही इस प्रकार से नष्ट कर देने की उनकी इच्छा नहीं थी तथापि वे विचलित हो गए। गंभीर वाणी में बहुत धैर्य के साथ उन्होंने विनम्रतापूर्वक कहा—'महाराज। यदि इस महान् दिग्विजय का श्रेय आप लेंगे तो निश्चय ही यह कलंकिनी ब्रह्महत्या भी आप को ही लेनी पड़ेगी। क्योंकि इसी के साथ ही वह भी जुड़ी हुई थी। मैं तो कहूँगा कि आप के अभिमानी मन ने यदि दिग्विजय की उद्दाम लालसा न प्रकट की होती तो यह महान् अनर्थ कैसे घटित होता। शान्तिप्रिय महाराज त्रिवृष्ण के शासनकाल में तो एक मनुष्य का भी वध नहीं हुआ था। महाराज।' वृशजान की वाणी में भी उनकी सहज माधुरी नहीं रह गयी थी। ब्रह्महत्या के भय से बुद्धि और विवेक लुप्त हो चले थे।

वृशजान की इस निर्भय स्पष्टोक्ति से महाराज त्र्यरुण का वंशानुगत अभिमान प्रबुद्ध हो उठा। उन्होंने वृशजान को भरी भीड़ में अपमानित किया और स्यन्दन से उतर कर राजधानी छोड़ देने की कठोर आज्ञा भी सुना डाली। वृशजान वहीं स्तम्भित खड़े रह गए और महाराज के संकेत से सारथी ने मृतक तुल्य ब्राह्मणकुमार के शरीर को उपचार अथवा

अन्तिम क्रिया के लिए राजपुरुषों को उसके घर पहुँचाने की आज्ञा देकर स्यन्दन को आगे बढ़ाया।

धीरे धीरे निराश और दुःखी भीड़ समाप्त हुई। अयोध्या के महान् उल्लास की यह कलंकिनी बेला बीत गई। सन्ध्या हुई और दिनमणि अपने वंशधर की यह दुर्दशा देख अस्त हो गए। मुनिकुमार की इस दयनीय मृत्यु की अपचर्चा निशा के अन्धकार के साथ ही समस्त राजधानी में व्याप्त हो गई। महोत्सव के समस्त आयोजन बन्द कर दिए गए और प्रातःकाल जहाँ विजय की दुन्दुभि बज रही थी वहीं रात्रि में श्मशान की सी भयावनी नीरवता छा गयी। महाराज त्र्यरुण इस अनागत अमंगल की मीमांसा में अन्न-जल छोड़कर एकान्त में जा पड़े थे। मन्त्रीगण किंकर्तव्यविमूढ़ थे और अन्तःपुर में सिसकियों का साम्राज्य था। किन्तु इन सब विपदाओं में भी वृशजान अचंचल थे। राजपुरुषों से मुनिकुमार के निर्जीव-से शरीर को लेकर उन्होंने अपनी सेवा और साधना का मार्ग पकड़ा। वे अथर्वांगिरस के अद्वितीय उपदेष्टा और साधक थे। ब्राह्मणकुमार के मृतक शरीर पर उन्होंने रात्रि भर अपने प्रयोग जारी रखे। फिर तो मंत्र और औषधि के अमोघ प्रभाव सफल हुए। रात्रि के पिछले प्रहर में मुनिकुमार के अचेतन शरीर में जीवन के लक्षण लौट आए और सूर्योदय होने के साथ ही उन्होंने उसे अपने साथ लेकर राजधानी से प्रस्थान कर दिया।

रात्रि के निविड़ शोकान्धकार में डूबी अयोध्या को प्रातः जब यह मंगलदायी सुसंवाद मिला तो वह पूर्ववत् हर्षोन्मत्त हो उठी। झुण्ड के झुण्ड लोग वृशजान और मुनिकुमार का दर्शन करने के लिए पीछे-पीछे दौड़ पड़े। महाराज त्र्यरुण को जब यह सब ज्ञात हुआ तो वे भी पीछे-पीछे चल पड़े, किन्तु स्वाभिमानी वृशजान ने अयोध्या की ओर से आँखें फेर ली थीं। महाराज की प्रार्थनाओं और चेष्टाओं को विफल बनाकर वे अयोध्या से अपने पुर की ओर आगे ही बढ़ते गए। न तो महाराज को कुछ प्रत्युत्तर दिया और न उनकी ओर आँखें उठाकर देखा ही। महाराज त्र्यरुण अपमानित होकर राजप्रासाद को वापस चले आए और समूची अयोध्या

वृशजान के इस कठोर निश्चय से खिन्न होकर महाराज के पश्चात्ताप की दारुण अग्नि में जलने लगी।

धीरे-धीरे दिन बीतने लगे और अनेक वर्ष बीत गए। वृशजान ने अयोध्या की सुधि नहीं ली। उनके चले जाने के कारण अयोध्या निष्क्रिय सी हो उठी। यज्ञ-योगादि के पावन प्रसंग बन्द हो गए। राजप्रासाद, राजधानी और सम्पूर्ण राज्य की ऐसी ही दशा थी। जनता में भी भोग-विलास की भावना प्रबल पड़ने लगी। सांसारिक सुखों को ही सर्वस्व समझा जाने लगा। घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, अनुपकार, और संघर्ष की ज्वाला ने शान्ति और सन्तोष को क्षार कर दिया। अभाव के हाहाकार से प्रकृति भी रूठ गई। अतिवृष्टि और अनावृष्टि से समूची प्रजा संत्रस्त हो गई। और इधर महाराज त्र्यरुण ने सैकड़ों परमसुन्दरी रमणियों से भरे अन्तःपुर का अपमान कर एक अतिसुन्दरी नगरवधू की कन्या 'पिशाची' से गन्धर्व विवाह कर लिया। पिशाची के अन्तःपुर प्रवेश के साथ ही अयोध्या पर आपदाओं की घनघोर वृष्टि हुई। महामारी आई। जितने बलवान, बुद्धिमान, सुन्दर और सर्वगुणोपेत नवयुवक थे, एक एक करके मरते गए। अनेक नए-नए रोग आए, प्रजा का अधिकांश विकलांग और रोगी बन गया। अविद्या का ऐसा प्रगाढ़ अंधकार फैला कि पुत्र और पिता में लड़ाई होने लगी। पति पत्नी का शिर काटने को उतारू होने लगे और लोग अपनी ही बहू-बेटी की प्रतिष्ठा के प्रसंगों की भी उपेक्षा करने लगे। जहाँ अग्निहोत्र होते थे, सन्ध्या एवं पूजन के पावन समारंभ रचे जाते थे वहीं बैठकर लोग एक दूसरे की निन्दा एवं अपकार की योजनाएँ बनाने लगे। ईश्वर का विस्मरण हो गया और एक दूसरे का गला काट कर उसकी सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और बहू-बेटी को हड़पने की कुकल्पना को ही जीवन का रस समझा जाने लगे।

जब अन्याय अपनी चरम सीमा डांक गया और अयोध्या यमराज की विकराल नगरी के समान अशोभना बन गई तो बूढ़े मंत्रियों ने राजा को मंत्रणा देकर वृशजान को अयोध्या वापस बुलाने का दुराग्रह

किया। अपने बालमित्र की पावन स्मृति से राजा की अन्तश्चेतना में सद्-विवेक का उदय हुआ। उसने दूसरे ही दिन प्रातःकाल प्रजावर्ग के प्रतिनिधियों, सामन्तों, पारिषदों एवं मंत्रियों के साथ वृशजान को अयोध्या वापस लाने के लिए उसके पुर की मांगलिक यात्रा का कार्यक्रम निश्चित किया। नयी रानी पिशाची को जब यह ज्ञात हुआ तो उसने डटकर इसका विरोध किया। वह चाहती थी कि आनन्द और विलास का यह अबाध क्रम नित्य चलता रहे किन्तु महाराज त्र्यरुण उससे सहमत नहीं हो सके और दूसरे दिन प्रातःकाल ब्राह्म मुहूर्त में उन्होंने निर्दिष्ट कार्यक्रम के अनुसार वृशजान की पुरी की ओर प्रस्थान कर ही दिया। पहले प्रियतमा पिशाची को भी साथ ले चलने का निश्चय हुआ, किन्तु वह रुष्ट हो गयी और महाराज के साथ पुरोहित के गाँव जाने के इस कार्य को अपमान से पूर्ण बतलाकर रुक गयी।

महाराज त्र्यरुण ने प्रजावर्ग के प्रतिनिधियों, सामंतों, पारिषदों, एवं मंत्रियों समेत वृशजान के पुर में जब पैर रखा तो उन्हें वर्षों बाद अयोध्या के अतीत गौरव की पुनः स्मृति हुई। उस पुर के चतुर्दिक व्याप्त यज्ञ के सुगन्धित धूमों से उनके अहंकार का आवरण गल गया। कानों के चिरपरिचित वेद-मन्त्रों के पावन उच्चारण को सुनकर उन्हें रोमांच हो आया। वृशजान के सुसम्पन्न पुरजनों एवं परिजनों की समृद्धि, सुषमा और शान्ति को देखकर उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया कि—'निश्चय ही वृशजान ही अयोध्या की समस्त समृद्धियों के आश्रयस्थल थे। दूध देनेवाली गौएँ, सुन्दर बलिष्ठ नवयुवक एवं नवयुवतियाँ, अन्नों से भरे खेत, खलिहान चारों ओर वसन्त की मोहक श्री—ये सब के सब वृशजान के पुण्यबल से ही अभिमंत्रित हैं। ऐसे कल्पतरु का अपमान करके मैंने ही अयोध्या को नरक के समान बनाया है। मुझे धिक्कार है। मेरी बुद्धि नष्ट हो गई थी जो मैंने अपने प्राण-प्रिय सखा का ऐसा अपमान किया था।' ज्यों-ज्यों महाराज त्र्यरुण वृशजान के आश्रम के समीप पहुँचने लगे त्यों-त्यों पश्चात्ताप की दारुण अग्नि में वे तपने-से लगे। उनकी आँखों से अविरल अश्रु

प्रवाह गिरने लगा, स्वर विकम्पित हो गया और हृदय धड़कने लगा। किसी प्रकार सब के साथ आश्रम के गोपुर के समीप ही वह पहुँच सके थे कि दूर से ही वृशजान उन्हें आते दिखाई पड़ गये। वृशजान को देखते ही महाराज चंचल हो उठे। फिर तो राज-मर्यादा को छोड़कर वह स्यन्दन से नीचे कूद पड़े और पैदल-बिना पदत्राण के ही दौड़कर वृशजान के चरणों पर गिरकर सिसकियाँ भरने लगे। वृशजान का करुणा-विगलित ब्राह्मण-हृदय वर्षों के पुराने अपमान, उपेक्षा और स्वाभिमान से बोझिल बना हुआ था। महाराज त्र्यरुण की यह दशा देखकर वह भी द्रवित हो गया। वह फूट फूट कर रुदन करने लगे। जीवन भर के प्राणप्रिय मित्रों ने किसी की करणी का कुछ ख्याल बिना किए ही एक दूसरे को कसकर गले लगा लिया और वैसे ही बड़ी देर तक सिसकियाँ भरते हुए हृदय के सारे दुःखों को नयनों के मार्ग निकाल डाला। फिर तो बिना कुछ कहे-सुने ही एक ने दूसरे के हृदय को धोकर स्वच्छ कर दिया और कुछ क्षणों में ही उन दोनों के भीतर का वह अभेद्य अन्तर जाने कहाँ विलीन हो गया।

वृशजान के पुर में महाराज त्र्यरुण और उनके सहगामियों का अपूर्व स्वागत हुआ और दूसरे ही दिन वृशजान के साथ वे अयोध्या को वापस लौट आए। वृशजान के आते ही अयोध्या बदल गयी। यज्ञों का आवाहन हुआ और वर्षों से उपेक्षित अग्नि के पूजन एवं सम्बर्द्धन के साथ ही अयोध्या की श्री-सुषमा वापस लौटने लगी। कहा जाता है कि पुरोहित वृशजान ने सर्वप्रथम अयोध्या में फिर से जो महान् यज्ञ आरम्भ किया उससे समूची राजधानी हर्षोन्मत्त हो उठी। विशाल आयोजन था। वर्षों की उपेक्षित वैदिक समृद्धियों की कमनीय सुषमा देखने के लिए राज्य भर से लाखों धार्मिक नरनारी वहाँ एकत्र हो गए थे। किन्तु यज्ञारम्भ के प्रसंग पर जब वृशजान ने अग्नि का आवाहन किया तो अग्निदेव प्रज्वलित ही नहीं हुए। अनेक प्रयत्न विफल हो गए। अग्न्याधान की जितनी भी विधियाँ थीं, सब पूरी की गईं किन्तु अग्नि देवता फिर भी रूठे ही रहे। वृशजान को यह दुर्घटना समझने में देर नहीं लगी, उन्होंने तीन बार प्राणायाम करके

उच्चस्वर में अग्नि देव का स्तवन किया, तब अग्नि प्रकट हुए। महाराज त्र्यरुण और अन्य पुरोधा सभी आश्चर्यचकित थे। अग्नि को प्रकट होते देखकर सस्मित मुख वृशजान ने अग्नि का जय-जयकार करते हुए त्र्यरुण से कहा—'महाराज। मेरी समझ में आ गया कि अग्नि के अप्रसन्न होने का कारण क्या है? देखिए, क्षण भर में ही मैं इस रहस्य को सब के सम्मुख प्रकट कर रहा हूँ।'

यह कहकर वृशजान ने अग्नि को पुनः प्रदीप्त करते हुए ज्यों ही मन्त्रोच्चारण आरम्भ किया त्यों ही अन्तःपुर से चिल्लाती हुई नवीन रानी पिशाची उन्मत्तों की भांति यज्ञशाला में आकर उच्चस्वर से विलाप करने लगी। उस समय उसकी मोहिनी आकृति बड़ी भयंकर बन गई थी और शरीर की कमनीय कान्ति अति क्षीण हो गई थी। उसे यज्ञशाला में विघ्नों की मूर्ति के समान उपस्थित देख कर वृशजान ने धीर गंभीर स्वर में आसन पर बैठ जाने का आदेश किया। किंतु इसका उस पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा और वह महाराज त्र्यरुण और वृशजान के साथ समस्त उपस्थित धार्मिक जनों को कठोर दुर्वचन सुनाती हुई पुनः प्रबुद्ध स्वर में रुदन करने लगी।

महाराज त्र्यरुण अपनी प्रियतमा रानी की यह दुर्दशा देख कर कुछ कहना ही चाहते थे कि वृशजान ने उन्हें मौन रहने का गूढ़ संकेत किया। सभी लोग स्तब्ध थे। इसी बीच वृशजान ने ऐसे अमोघ मन्त्रों का उच्चारण करना आरम्भ किया कि रानी पिशाची जहां खड़ी थी, वहीं एक यज्ञपात्र के ऊपर ही गिर पड़ी। उसकी रूखी अलकें मुख मण्डल पर बिखर गई थीं, आंखें मुँद गई थीं और मुख से फेन गिर रहा था। वृशजान ने ऋत्विजों को उसे प्रकृतिस्थ करने का आदेश किया और स्वयं ध्याना-वस्थित होकर मन्त्र-जाप में लग गए।

ऋत्विजों के शीतल उपचारों से प्रकृतिस्थ पिशाची ने एक बार अपनी अरुण आँखें खोलकर यज्ञमण्डप की ओर देखा और भयकातर होकर पुनः दीर्घ श्वासें छोड़ती हुई कांपने लगी। उसकी वाणी विलुप्त हो

चुकी थी। और धीरे-धीरे उसके शरीर से चेतना के लक्षण बीतते जा रहे थे। इसी बीच वृशजान ने अपना ध्यान भंग किया और प्रबुद्धस्वर में मन्त्र पढ़ते हुए 'स्वाहा स्वाहा' का उच्चारण किया। उनका स्वर कुछ ऐसा विचित्र था कि समूचे यज्ञ-मण्डप में भय का संचार हो गया और ऋत्विजों के साथ महाराज त्र्यरुण का शरीर भी कांप उठा। इसी क्षण एक भयंकर दुर्घटना और हुई। सभी लोगों के देखते ही देखते रानी पिशाची के शरीर में से अग्नि की भयंकर लपटें निकलने लगीं और वह भस्मावशेष होकर पल भर में अन्तर्हित हो गई। अग्नि की ऐसी प्रचण्ड शक्ति का अनुमान भी किसी को नहीं था। यह भयंकर दुर्घटना और वृशजान के अमोघ मन्त्र के प्रभाव को देखकर महाराज त्र्यरुण भी विचलित हो गए और यज्ञशाला में चारों ओर आतंक-सा छा गया।

तदनन्तर क्षणभर चारों ओर निहार कर प्रसन्नमुख वृशजान ने धीर गम्भीर स्वर में अघमर्षण सूक्त का उच्चारण करते हुए सस्मित मुख से स्वस्तिवाचन किया और सब के भय और विस्मय का निवारण करते हुए कहा—

'महाराज! यह नवीन सुन्दर रानी ब्रह्महत्या थी। इसने अपनी मोहिनी रूपराशि में आपको विमुग्ध कर लिया था। राजप्रासाद में जिस दिन से इस अभागिनी का प्रवेश हुआ, उसी दिन से अयोध्या की ही नहीं समूचे राज्य की श्री नष्ट हो गई। यह प्रत्यक्ष पिशाची थी महाराज। इसकी रूप-राशि में आप ऐसे बंधे हुए थे कि कभी इसके नाम पर भी आपने ध्यान नहीं दिया। इसी ने अग्नि के तेज को खर्वित करके समूचे राज्य में विपत्तियों के बादल बरसाए थे। यह समाप्त हुई और अब हमारा यज्ञ निर्विघ्न सम्पन्न होगा महाराज!'

महाराज त्र्यरुण पुनः कांप उठे। 'पिशाची' नाम का बारंबार स्मरण करते हुए वह उन नारकीय प्रसंगों का भी स्मरण करने लगे जो उनके प्रमाद एवं अज्ञान से राज्य की वर्तमान दुरवस्था के कारण बने थे।

क्षण भर में ही यज्ञमण्डप प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गया। और

तदनन्तर यज्ञ का समारम्भ हुआ। वर्षों बाद यज्ञीय धूमों की सघन घटा में अयोध्या सुगन्धि से भर गई। वेद-मंत्रों के उच्चारण से वातावरण में व्याप्त निखिल पापों का शमन हो गया और श्रीविहीन अयोध्यावासियों के मुरझाए मुखमण्डल उत्फुल्ल होकर नवजीवन का अनुभव करने लगे।

× × ×

सचमुच अयोध्या के दिन पुनः वापस लौट आए। यज्ञ मण्डप में अहर्निश जागरूक अग्नि की पावन ज्वाला में 'पिशाची' की काया और माया के भस्म हो जाने से महाराज त्र्यरुण और पुरोहित वृशजान की बाल-मैत्री अब समस्त प्रजावर्ग के इहलोक और परलोक बनाने वाले वैदिक कर्मों के सदनुष्ठानों के साथ-साथ उत्तरोत्तर घनीभूत होती गयी। समूचे राज्य में सुख, समृद्धि, शान्ति तथा सन्तोष की वर्षा से निर्बाध आनन्द का सागर उमड़ने लगा।

रुरु का जीवन-दान

महर्षि भरद्वाज का आश्रम प्रयाग में गंगा के पावन दक्षिण तट पर समूचे देश की चेतना एवं ज्योति का प्रेरक स्थल था। देश के प्रत्येक अंचल के सुयोग्य वेदाध्यायी बटु उसमें विद्याध्ययन करते थे और उनकी संख्या सहस्रों में होती थी। अपने समय के कुलपतियों में भरद्वाज की प्रतिष्ठा अनुपम थी और उनके आश्रम में देश की गिनी-चुनी प्रतिभा का विकास होता था।

प्रयाग की पुण्य-स्थली। देवनदी भागीरथी, यमतनया यमुना और गुप्तस्रोतस्विनी सरस्वती का मनोरम संगम स्थल उस समय हमारे देश के समस्त पुण्यक्षेत्रों का मुकुटमणि था। वहीं पर वर्ष भर में अनेक बार महान् यज्ञों के सदनुष्ठान सम्पन्न होते थे और राजा-महाराजाओं, ऋषियों-मुनियों एवं तपस्वी-साधकों की विशाल भीड़ उनमें दूर-दूर से आकर भाग लेती थी। महर्षि भरद्वाज उन सब यज्ञों के प्रधान आचार्य होते थे और उनकी वृहत् शिष्यमण्डली भी उनमें सब प्रकार से हाथ बँटाती थी। देश की अक्षय-समृद्धि एवं वैभव को मुक्तहस्त होकर लुटाने का मनोहारि दृश्य प्रयागराज में ही दिखाई पड़ता था, जब कि यज्ञों के प्रसंग में सर्वस्व दान करने वाले यजमान रिक्तहस्त होकर त्रिवेणी के पावन-प्रवाह में अपना त्रयताप मिटा कर प्रसन्न मुख, निष्कलुष हृदय और सात्त्विक उत्साह की अविनश्वर प्रेरणा लेकर प्रयाग से वापस लौटते थे। जल से रिक्त श्वेत बादलों की शुभ्र छटा के समान उनका तन-मन उस समय अत्यन्त प्रकाशमान हो उठता था। उनकी देखा-देखी सामान्य जनता में भी दान और यज्ञ करने की सहज आकांक्षा जन्म लेती थी और छल-छिद्र, ईर्ष्या-द्वेष, पाप-पाषण्ड एवं मिथ्या-चरण का जड़-मूल से बिना किसी प्रयास के ही विनाश हो जाता था।

प्रयागराज की इस पावन-प्रेरक शक्ति में महर्षि भरद्वाज के पुण्य आश्रम की देन ही सब कुछ थी। उसी के कारण देश की सर्वतोमुखी

अभ्युन्नति हो रही थी। यहाँ के महान यज्ञों से प्रसन्न होकर देवता समय-सुकाल की रचना करते थे, पुरोहित एवं वेदज्ञ ब्राह्मण प्रभूत दक्षिणा से सुसन्तुष्ट होकर जनता के कल्याण-चिन्तन में अपनी सम्पूर्ण साधना-शक्ति लगाते थे। क्षत्रिय और वैश्य अपनी शक्ति का यह सदुपयोग देखकर समस्त राज्य की जनता की रक्षा तथा पालन-पोषण को ही अपना कर्त्तव्य समझते थे। तथा शूद्रों एवं अन्त्यजों में भी अपनी सेवा का वह सुअवसर देखकर देश की हित-चिन्ता का ध्यान ही सर्वोपरि होता था। प्रयाग के यज्ञों की पावन धूमराजि देश भर में सुख-शान्ति, सन्तोष एवं कर्त्तव्य-भावना का जो मंगल-विधान करती थी उसको अन्यथा करने की शक्ति किसी में नहीं थी। दैव के दुर्निवार आदेश की भाँति गृहस्थी के विभिन्न प्रसंगों से लेकर ब्रह्मचर्य, वाणप्रस्थ और संन्यस्त जीवन की प्रत्येक घटना की व्यवस्था प्रयाग का यह पावन आश्रम ही देता था। यही नहीं जब कभी कोई दैवी विपदा अथवा दुर्घटना का प्रसंग देश में कहीं भी उपस्थित होता था तब भी सब की आँखें प्रयाग की ओर लगी रहती थीं। संक्षेप में देश की चेतना, आध्यात्मिक संदेश एवं भौतिक जीवन की सुख-समृद्धियों को संभालने एवं वितरण करने का सम्पूर्ण भार प्रयाग पर था। और प्रयाग की महिमा, मर्यादा एवं गरिमा के सब तरह से संरक्षण का सम्पूर्ण भार महर्षि भरद्वाज के आश्रम पर था।

महर्षि भरद्वाज के इसी पावन आश्रम में सुविख्यात महर्षि च्यवन का पौत्र एवं ऋषिवर प्रमति का पुत्र रुरु भी एक अन्तेवासी के रूप में अध्ययन करता था। रुरु का जन्म घृताची नामक अप्सरा के गर्भ से हुआ था। रुरु महर्षि भरद्वाज के आश्रम की प्रेरणा का तेजःपुंज था। भरद्वाज के सहस्रों अन्तेवासियों में वह सर्वाधिक तेजस्वी, अध्ययनशील और सरल हृदय था। उसका सर्वाङ्ग सुन्दर शरीर और मृदुल स्वभाव देखकर सभी स्वभावतः आकृष्ट हो जाते थे और उसकी प्रखर प्रतिभा तथा गहन अध्ययनशीलता की प्रशंसा महर्षि भरद्वाज के आश्रम से दूर-दूर तक फैल चुकी थी। प्रयाग से बाहर जब कोई धार्मिक समारोह रचा जाता, यज्ञानुष्ठान होते, दान की

सत्क्रियाएं सम्पादित होतीं, महर्षि भरद्वाज अपने प्रतिनिधि के रूप में रुरु को ही वहाँ भेजते। और रुरु था भी वैसा ही। अपनी अद्वितीय प्रतिभा तथा स्वाभाविक विशेषताओं से महर्षि प्रमति तथा भरद्वाज की कीर्ति-कौमुदी का विस्तार करने में वह अपना तन-मन न्यौछावर कर देता था।

रुरु का सुकुमार सुदर्शन स्वरूप देखकर देवकुमार भी लज्जित हो जाते थे। बीस वर्ष के ब्रह्मचारी वेश में जब कभी वह आश्रम से बाहर जाता था तो दर्शकों की भीड़ लग जाती थी। उसके ब्रह्मवर्चस् की अखण्ड साधना का तेज जैसे उसके सम्पूर्ण अंगों में छलकता रहता था। उसकी विशाल तेजस्विनी आंखें यद्यपि करुणा तथा सहानुभूति से सदा तरल रहती थीं, किन्तु उनमें कमनीय कमलदल की कान्ति के साथ ही गंभीर विचार एवं चिन्तन की दृढ़ता भी भासमान थी। उसके सुविस्तृत शुभ्र एवं तेजस्वी ललाट को देखकर अष्टमी का चन्द्रमा भी लज्जित हो जाता था और उसकी सुदीर्घ नासिका उसके सद्विवेक एवं परोपकारिता की भावना का अनायास ही परिचय देती था। मुख-कमल तो उसका सदा विहँसता ही रहता था। दारुण प्रसंगों में भी उसकी सहज-प्रसन्न मुख-रेखा कभी जटिल होती नहीं देखी गई। क्रोध के अनुगामी विकारों का संस्पर्श भी उस ब्रह्मचारी को नहीं हुआ था। छल-छिद्र एवं दम्भ-पाखण्ड के अपावन प्रसंगों से वह सर्वथा अछूता था। उसकी मनोहारिणी वाणी में अद्भुत संगीत-माधुरी थी। जब वह सामवेद के मंत्रों का सस्वर गायन आरम्भ करता तो महर्षि भरद्वाज भी एकाग्रचित्त होकर उसे सुनने लगते और अनेक बार आश्रम के पशु-पक्षियों में भी उसके संगीत का अमोघ प्रभाव पड़ते हुए देखा जाता।

रुरु के मनोहारि व्यक्तित्व की आकर्षक गाथा उस समय के ऋषि कुमारों के लिए स्पर्द्धा की वस्तु बन गई थी। कोई उसके लंबे-तगड़े सर्वाङ्ग सुन्दर कमनीय कलेवर की प्रशंसा करता तो कोई उसके गंभीर अध्ययन, प्रखर पाण्डित्य एवं अमन्द तेजस्विता की। उसके परम मृदुल एवं सद्गुणी स्वभाव की चर्चा तो उससे जलनेवाले ईर्ष्यालु सहाध्यायी भी आपस में किया करते। उसकी अविश्रान्त परिश्रमशीलता, परदुःखकातरता, अविचल

गुरु-सेवा तथा आश्रम-कल्याण के निमित्त सर्वदा अखण्डित रहनेवाली जागरूकता की प्रशंसा तो स्वयं महर्षि भरद्वाज भी किया करते ।

ऋषि कुमार रुरु का विद्याध्ययन जब समाप्त हो गया और सम्पूर्ण वेदों, शास्त्रों, कलाओं तथा गृहस्थ जीवनोपयोगी व्यापारों की प्रतिभा उसे अधिगत हो गई तो महर्षि भरद्वाज ने उसे एक राजा के यज्ञ के प्रसंग में वदरी क्षेत्र की ओर भेज दिया । उसी ओर रुरु के पिता ऋषिवर प्रमति का आश्रम भी था । महर्षि भरद्वाज त्रिकालदर्शी थे । उनका यह विचार था कि रुरु की व्यक्तिगत योग्यता और अदम्य प्रतिभा को उसके एकाकी जीवन में प्रस्फुटित होने का अवसर देना उसके भावी कल्याण के लिए अधिक उपकारी होगा । वदरी क्षेत्र में उक्त यज्ञ को सविधि सम्पन्न कर उसे पुनः प्रयाग आने की आज्ञा दी गई थी और तभी उसका दीक्षान्त संस्कार कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की अनुमति देने का निश्चय भी बता दिया गया था ।

वदरी क्षेत्र में जाकर रुरु को एक राजा के जिस महान् यज्ञ को सविधि सम्पन्न करना था, जब वह पूर्ण हो गया तो वह सुप्रसन्न मन से दान-दक्षिणा में प्राप्त विपुल सामग्रियों के साथ प्रयाग के लिए वापस हुआ । उसके पिता महर्षि प्रमति का आश्रम यद्यपि मार्ग से थोड़ा दूर पर ही था तथापि आचार्य की आज्ञा को प्राप्त किए बिना वह उधर अपना पग उठा ही कैसे सकता था ?

वदरी क्षेत्र से प्रयाग का मार्ग उन दिनों वृहत अरण्यों एवं नदियों के कारण अत्यन्त दुर्गम था । महीनों की लंबी दुःखद यात्रा के अनन्तर ही वह प्रयाग पहुँच सकता था । साथ ही उसे यज्ञ की दक्षिणा में प्राप्त उन विपुल सामग्रियों की सुरक्षा भी करनी थी, जो अपनी ओर से गुरु दक्षिणा के रूप में आचार्य को उसे सौंपना था । निदान भारवाही राजपुरुषों की एक सशस्त्र टुकड़ी के साथ वह वदरी क्षेत्र से प्रयाग के दीर्घ पथ पर प्रसन्न मन से चल पड़ा । अपने कार्य की सफलता से उसका चित्त अत्यन्त प्रसन्न था और मार्ग की दुस्तर कठिनाइयों को वह बड़े उत्साह एवं सुख के साथ बिता रहा था ।

बदरी क्षेत्र से नीचे उतरने पर उसने कई दिनों बाद धरती के पुण्य क्षेत्र गंगाद्वार में अपना अवस्थान निश्चित किया जहाँ मनोरम अरण्यों के बीच कल-कल निनादिनी भगवती भागीरथी के पुण्य-प्रवाह की क्षिप्रता एवं निर्मलता का अपूर्व दर्शन करके वह आत्म विस्मृत हो गया। गंगाद्वार की पुण्य भूमि में पहुँचकर रुरु दक्षिणा-सामग्री के साथ यात्रा करनेवाली भीड़ से दूर हटकर परमानन्द की अनुभूति के लिए एकान्त-स्थल की तलाश में एकाकी चल पड़ा। ज्यों-ज्यों वह दूर आता गया त्यों-त्यों उस मनोरम स्थल की शोभा उसके निर्मल चित्त को अधिकाधिक आकृष्ट करने लगी। कुछ दूर और आगे बढ़ने पर उसने गंगातट पर ही एक ऐसा सुरम्य घाट देखा, जिसकी स्वच्छ स्फटिक निर्मित सीढ़ियों से नीचे अनेक सुन्दरियाँ क्रीडा में निरत थीं। सृष्टि के इस अनुपम एवं उन्मुक्त सौन्दर्य के दर्शन का यह अवसर रुरु के जीवन में प्रथम बार आया था। वह अपलक नेत्रों से उसी ओर देखने लगा, जिधर वे सुन्दरियाँ अपनी स्वछन्द जल-क्रीडा में निरत थीं। उनकी अपार रूपराशि को देखकर रुरु मंत्रमुग्ध हो गया। अब तक उसने प्रकृति सुन्दरी की जिस पावन छटा का दर्शन आश्रम-जीवन में किया था, उनसे सर्वथा भिन्न यह एक विचित्र प्रकार का सौन्दर्य था। इसमें अपूर्व आकर्षण था, जिसका अनुभव उसे अनजान में ही विचलित कर रहा था। उसे लग रहा था जैसे उसके हृदय में कम्पन हो रहा है, समूचे शरीर में रोमांच हो रहा है और श्वांस की गति कुछ तीव्र होती जा रही है।

जलक्रीडा-निरत सुन्दरियों के उस समूह में जो सर्वाधिक सुन्दरी थी और जिसकी अतुलनीय रूपराशि पर अपना तन-मन न्यौछावर करने का विचार रुरु ने अनजाने में ही कर लिया था, वह थी ऋषिवर स्थूलकेश की पोषिता कन्या प्रमद्वरा। मेनकापुत्री प्रमद्वरा का अलौकिक सौन्दर्य एवं यौवन भूमण्डल भर में चर्चा का विषय बना हुआ था और इसको प्राप्त करने की लालसा में अनेक राजकुमार, योगी और साधक भी लगे हुए थे। स्थूलकेश को वह प्राणों से बढ़कर प्रिय थी। उसके लालन-पालन में वह

ऐसे दत्तचित्त रहते थे, जैसे प्रमद्वरा को छोड़कर उनके जीवन का कोई दूसरा मुख्य कार्य ही नहीं रह गया था। सृष्टि की इस मूल्यवान मणि की रक्षा के लिये वह महान् विषैले सर्प के समान थे। उनके सहज क्रोध की ज्वाला में अनेक रूपलोभी पथभ्रष्ट नवयुवक अपना जीवन समाप्त कर चुके थे, अतः किसी व्यक्ति में ऐसा साहस नहीं था कि प्रमद्वरा की ओर लुब्ध आँखें भी उठा सके। उनका संकल्प था—'प्रमद्वरा उसी को दी जायगी, जो उसी की भाँति संसार भर में अद्वितीय प्रतिभा एवं सौन्दर्य का धनी होगा।'

अपने अतुलनीय सौन्दर्य एवं उद्दाम यौवन से अपरिचित प्रमद्वरा का जीवन अभी तक बड़े सुख-सन्तोष और शान्ति से बीत रहा था। ऋषिवर स्थूलकेश दूसरों के लिए भले ही प्रचण्ड क्रोधी और अनुपकारी के रूप में ख्यात थे किन्तु उसके लिए तो वह सर्वस्व निछावर करने वाले स्नेहार्द्र-चित्त पिता थे। प्रमद्वरा यद्यपि वयस्क हो चली थी और अपनी शारीरिक सुविधाओं की चिन्ता उठाने की योग्यता उसमें आ गयी थी तथापि स्थूलकेश की दृष्टि में वह उनकी वही नन्ही-मुन्नी बालिका अब भी थी, जिसकी रक्षा का सब भार उन्हें वर्षों पूर्व मेनका दे गई थी।

+ × ×

भागीरथी के पुण्य तट पर खड़े-खड़े ऋषिकुमार रुरु का बहुत समय बीत गया किन्तु वह जिस मुद्रा में वहाँ खड़े हुए थे, उसी मुद्रा में अब भी खड़े होकर सब दृश्य देख रहे थे। अन्ततः सुंदरियों की जलक्रीडा समाप्त हुई क्योंकि बड़ी देर तक जल में क्रीडा-निरत रहने के कारण अब उन्हें शीत का अनुभव होने लगा था, उनकी आँखें रक्तवर्ण की हो गई थीं और शरीर-यष्टि कम्पित होने लगी थी। श्लथ-विश्लथ होकर गंगा के पावन प्रवाह से धीरे-धीरे बाहर आकर वे सीढ़ियों पर खड़ी हो गईं और चतुर्दिक रंग-बिरंग दृश्यों का रूप-परिवर्तन देखकर एक दूसरी को हँसाने का प्रयत्न कर रही थीं। यह रूप-परिवर्तन उनकी अपनी आँखों के विकार के कारण हुआ था, जो देर तक जल में डूबते रहने से स्वयमेव हो गया था।

सुन्दरियों ने कुछ क्षण बाद ही अपने घाट से अनति दूर मंत्र-मुग्ध की भाँति खड़े हुए ऋषि कुमार रुरु को जब देखा तो उनकी हँसी सहसा रुक गई। चण्ड स्वभाव स्थूलकेश के शाप से दग्ध इस घाट की ओर आने का दुःसाहस करने वाले उस परम मनोरम युवक को देखकर वे सहम गईं। उन्होंने अनुभव किया, इस प्रकार का अपूर्व साहस दिखाने वाला यह नवयुवक कोई साधारण प्राणी नहीं है। इसकी देवोपम आकृति यह सिद्ध करती है कि यह विधाता की सृष्टि की कोई मूल्यवान् रचना है। इसका अलौकिक तेज, अनुपम सौन्दर्य, निर्भीक मुखमुद्रा एवं अदम्य उत्साह से छलकता नवयौवन ही यह सिद्ध करता है कि किसी महान् उद्देश्य से ही विधाता ने इसकी मनोरम रचना की होगी। इस प्रकार के विचार में निमग्न सुन्दरियों ने थोड़ी देर बाद रुरु की ओर से अपनी प्यासी आँखें उठाकर देखा तो इधर उनकी सखी प्रमद्वरा की भी वही दशा थी। ऋषि-कुमार रुरु के अलौकिक रूप एवं यौवन की अतुल सम्पत्ति देखकर वह भी अपनापा भूल चुकी थी। उधर रुरु के शरीर और मन की जो दशा दिखाई पड़ रही थी, बहुत कुछ उसी के अनुरूप वे प्रमद्वरा को भी पा रही थीं।

प्रमद्वरा के शरीर और मन की यह दशा उसकी सखियों से अप्रकट नहीं रह सकी। उन्होंने मान लिया कि विधाता ने प्रमद्वरा के स्वर्गीय सौन्दर्य की मनोहर कल्पना जिस भाग्यशाली नवयुवक के लिए की थी, वह आज सर्वप्रथम बार दृष्टिगोचर हुआ है। दोनों की मनोहर जोड़ी को कितनी निपुणता से विरंचि ने रचा है। किन्तु इस विचार के साथ दूसरे ही क्षण उन्हें प्रचण्डकर्मा ऋषिवर स्थूलकेश की उस क्रोधाग्नि का भी दुःखद स्मरण हुआ जिसमें अनेक नवयुवकों को अपनी कामना की आहुति देनी पड़ गई थी। वे सहम कर एक दूसरे का मुंह देखने लगीं। और उनकी मुखमुद्रा अकस्मात् भय से कातर हो गई।

किन्तु भाग्य का चक्र कितना विचित्र होता है। सुन्दरियाँ यह सब सोच ही रही थीं, और प्रमद्वरा अपनी चिन्ता के इस दुःसह भार को उठाने में अशक्त होकर दीर्घ श्वासें छोड़ती हुई आँखें मूँदकर धरती पर बैठ जाना चाहती

थी कि उसी क्षण दूर से स्थूलकेश की भयंकर गर्जना सुनाई पड़ गई। अपने प्रचण्ड हाथों में अनगढ़ बाँस की लकुट लिए हुए वह उसी घाट की ओर ही द्रुतिगति से बढ़े चले आ रहे थे। उन्हें घाट की ओर किसी पुरुष के आगमन का उद्वेजक संवाद क्षण भर पहले मिल चुका था और उस अभागे को उचित दण्ड देने की जल्दी उन्हें पड़ी थी। घाट के समीप आते ही उनकी दृष्टि ऋषिकुमार रुरु पर पड़ी, जो अपनी त्रिभुवन विमोहिनी आकृति में ध्यान-मग्न होकर अपलकनेत्रों से प्रमद्वरा की ओर निहार रहा था। ज्योंही रुरु के समीप वह हाँफते हुए पहुँचे और अपने वाग्बाण के प्रहार से उसके मर्मस्थल को विद्ध करने की योजना बनाने लगे त्योंही उनकी दीर्घश्वास क्रिया, अपशब्द निकालने वाले मुख और गंभीर ध्वनि करने वाले चंचल चरणों की चाप ने ऋषिकुमार रुरु का ध्यान भंग कर दिया। अपने कमलदलायत नेत्रों से रुरु ने स्थूलकेश की ओर ज्योंही देखा त्योंही स्थूलकेश की भयंकर आकृति अवरुद्ध होकर खड़ी हो गई। एक क्षण के लिए वह स्तम्भित हो गये। क्रोध भागने लगा और जलती हुई आँखों में आत्मीयता का सृजन करने वाली करुणा आ विराजी। ऐसे अलौकिक तेज, यौवन एवं सौन्दर्य का दर्शन उन्हें अभी तक नहीं हुआ था और न उन्हें इस बात का ही कभी अनुमान हुआ था कि यौवन और सौन्दर्य में कितनी अलौकिक मोहिनी हो सकती है।

स्थूलकेश थोड़ी देर तक तो स्तम्भित खड़े रहे। तदनन्तर उनका लकुट अपने आप ही नीचे गिर पड़ा और उनका क्रोध दूर होगया। आत्मीयता का मधुर भार प्रकट करने वाली वाणी में उन्होंने प्यार से पूछा—

'नवयुवक! मैं तुम्हारी भोली भाली आकृति देखकर यह अनुमान करता हूँ कि तुम किसी भाग्यशाली पिता के पुत्र हो। मेरे शाप से दग्ध इस घाट पर तुमने एकाकी आने का जो दुःसाहस किया है, उससे ज्ञात होता है कि तुम कितने निर्भीक और तेजस्वी हो। क्या मैं तुम्हारा नाम जान सकता हूँ और यह भी कि यहां आने का और इस प्रकार बहुत देर से खड़े होने का तुम्हारा क्या तात्पर्य है?'

अपनी सहज-प्रसन्न वाणी में रुरु ने मुस्कराते हुये कहा—'महानुभाव ! मैं महर्षि च्यवन का पौत्र तथा मुनिवर प्रमति का पुत्र हूँ और मेरा नाम रुरु है। मैं महर्षि भरद्वाज का शिष्य हूँ। गुरुदेव की आज्ञा से मैं बदरीवन में एक विशाल यज्ञ को सम्पन्न कराने के लिए गया था। वहाँ यज्ञ की सविधि समाप्ति कर मैं अपने गुरु के आश्रम प्रयाग की ओर वापस जा रहा हूँ। यहाँ गंगाद्वार में मैंने अवस्थान किया है। वहां भीड़ देखकर मैं कुछ देर तक एकांत में रहने की इच्छा से इधर ही आ रहा था कि इन सुन्दरियों की जलक्रीडा ने मेरा हृदय अकस्मात् आकृष्ट कर लिया। इनके दर्शन से मैं विचलित हो गया हूँ। मेरा मन अस्वस्थ हो गया है और मैं सम्प्रति कुछ कठिनाई में भी पड़ गया हूँ कि मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ और कैसे अपने चित्त को शांत करूँ। कृपा कर यदि आप मुझे कुछ उपाय बता सकते हों तो बताएँ कि इस समय मेरा क्या कर्त्तव्य है।'

ऋषिकुमार रुरु की इस निश्छल, निर्मल और कर्णप्रिय वाणी ने ऋषिवर स्थूलकेश की रही-सही क्रोधाग्नि को भी प्रशान्त कर दिया। उन्हें जीवन में प्रथम बार एक नवयुवक से इस प्रकार की निर्भय, निश्छल और तेजस्विनी वाणी सुनने को मिली थी। ऐसी मनोहर पुरुषाकृति भी उन्हें कहीं नहीं दिखाई पड़ी थी। महर्षि च्यवन के पुत्र ऋषिवर प्रमति उनके पुराने मित्र थे। अतः प्रमति के इस सुयोग्य एवं मनोहर पुत्र को अपने पुत्र के समान समझ कर उन्होंने झपटकर अपने अंकों से लगा लिया और स्नेहाश्रु से उसके मस्तक का अभिषेचन करते हुये गदगद वाणी में बोले—

'वत्स रुरु ! तुम्हारी इस निश्छल वाणी ने मेरे मन के कलुष को धो दिया है। मैं क्रोध से अन्धा बन कर तुम्हें कठोर दंड देने के लिए यहां आया था। किन्तु मैं देखता हूँ कि तुम में वह जीवनी शक्ति है जो दूसरों को भी जीवन-दान कर सकती है। बेटा ! तुम्हारे मन की अस्वस्थता स्वाभाविक है। वह विधाता की रचना है। मैं उसका उचित उपचार करूंगा, तुम मेरे आश्रम की ओर चलो और आज अपने सभी सहगामियों के साथ मेरा आतिथ्य स्वीकार करो।

स्थूलकेश के आश्रम में ऋषिकुमार रुरु का अपूर्व आतिथ्य-सत्कार किया गया। वहाँ वह कई दिनों तक रुका रहा। उसके पिता महर्षि प्रमति भी स्थूलकेश के आग्रह से वहीं बुलाए गए और वहीं पर प्रमद्वरा के साथ रुरु के विवाह का निश्चय किया गया। रुरु ने अपने पिता से अपने मन की सम्पूर्ण व्यथा बता दी थी और वह भी कह दिया था कि प्रमद्वरा के साथ यदि मेरा विवाह नहीं होता तो मेरा सम्पूर्ण जीवन दुःखमय ही बीतेगा।

स्थूलकेश और प्रमति दोनों ने अत्यन्त प्रसन्नता और उल्लास से रुरु के साथ प्रमद्वरा के विवाह का जब निश्चय कर लिया तो इस शुभ संवाद की सूचना सर्वत्र फैल गयी। द्रुतगामी वायु के पंखों पर बैठकर यह विवाह-चर्चा रुरु के प्रयाग वापस आने के कई दिन पूर्व ही महर्षि भरद्वाज के आश्रम में भी व्याप्त हो गयी थी और समस्त आश्रमवासी बटुकों में इसकी चर्चा होने लगी थी कि भाग्यशाली रुरु का उत्तर जीवन कितना सुखमय, कितना यशस्वी और कितना उज्ज्वल होगा।

प्रमद्वरा और रुरु भी प्रसन्नता से फूले नहीं समाए और अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक उस शुभ-मुहूर्त के आगमन की प्रतीक्षा करने लगे जब दोनों का एक साथ परिणय सम्पन्न होने को था। ऋषिवर स्थूलकेश और प्रमति की आज्ञा प्राप्त कर रुरु प्रयाग के पथ पर अग्रसर हुआ और वे दोनों पुराने मित्र अपने इस नूतन सुखद सम्बन्ध की चिन्ता में अभी से लग गए।

अपनी लंबी यात्रा समाप्त कर रुरु जब महर्षि भरद्वाज के आश्रम में पहुँचा तो महर्षि ने उसकी सफलता के उपलक्ष्य में उसके अभिनन्दनादि का आश्रम में समुचित प्रबन्ध किया था। आश्रम के अन्तेवासियों ने तो जैसे अपने समुत्सुक नेत्रों की पलकों पर उसे सुला लिया। गले लगाया और स्नेहाश्रु की मालिकाओं से उसका अभिषेचन किया। इतने दिनों के उसके वियोग में आश्रम में जो कुछ घटनाएँ हुई थीं—उनका रसमय विवरण सुनाया और त्रैलोक्यसुन्दरी प्रमद्वरा के संग उसके परिणय की मनोहर गाथा को अनेक प्रकार से सुनने में रुचि ली। सहज प्रसन्न एवं निश्छल

रुरु ने अपने मन एवं हृदय की उन समस्त संवेदनाओं का विवरण अपने सहाध्यायियों को साद्यन्त सुनाया कि किस प्रकार से वह प्रमद्वरा का प्रथम दर्शन होते ही अपने आप को भूल गया था। मुंह लगे साथियों में से कुछ ने उसके भाग्य की प्रशंसा की और कुछ ने परिहास में उसके भोलेपन की खिल्ली भी उड़ायी।

महर्षि भरद्वाज ने उसे हृदय से आशीर्वाद दिया और गुरु-दक्षिणा के रूप में प्राप्त उस विपुल दक्षिणा-सामग्री को उसे अपने गृहस्थाश्रम में उपभोग करने की आज्ञा देते हुए कहा—'वत्स रुरु! अब तुम्हारा अध्ययन सब प्रकार के सम्पन्न हो चुका है। चतुर्दश विद्याओं के साथ वेदों एवं वेदाङ्गों का तुम सविधि अध्ययन कर चुके हो। कर्मकाण्ड में भी तुम्हें दक्षता प्राप्त हो चुकी है। आश्रम जीवन के समस्त आचारों का तुमने जिस अटूट निष्ठा और श्रद्धा से पालन किया है, वह तुम्हारी प्रतिभा एवं हमारे आश्रम के सर्वथा अनुकूल रहा है। अपनी सच्ची निष्कपट सेवा, श्रद्धा, विनयशीलता, सहानुभूति एवं उज्ज्वल प्रतिभा से तुमने हमारा और हमारे आश्रम का गौरव बढ़ाया है। मैं जिस ओर भी जाता हूँ तुम्हारे स्वभाव एवं पाण्डित्य की प्रशंसा ही सुनने में आती है। वत्स! मैं तुम पर परम प्रसन्न हूँ और आशीर्वाद के रूप में तुम्हें आदेश करता हूँ कि—'अब तुम अपने वृद्ध पिता ऋषिवर प्रमति के पास जाओ और अपना सुखमय गृहस्थ जीवन आरम्भ करो। गुरुदक्षिणा के रूप में तुम इतनी दूर से जिस विपुल सामग्री को यहाँ हमें देने के लिए लाए हो, उसे मैं सहर्ष तुम्हें वापस कर रहा हूँ। तुम्हारी गृहस्थी में ये सब वस्तुएँ तुम्हें काम देंगी। कल प्रातःकाल मैं तुम्हारा अवभृथ स्नान कराऊँगा और इसके अनन्तर तुम्हें अपने पिता के समीप वापस जाना होगा।'

आचार्य की इस ममता भरी अमृतवर्षिणी वाणी ने भावुक रुरु के निर्मल हृदय को द्रवित कर दिया। अपने विशाल नेत्रों से कृतज्ञता एवं प्रसन्नता के स्नेहाश्रु बहाते हुए वह अपने परमाराध्य आचार्य के चरणों पर गिर पड़ा और गद्‌गद् वाणी में बोला—

पूज्य आचार्य ! आपकी अमोघ विद्या एवं कृपा के महान् वरदान से मैंने अपना समूचा जीवन धन्य बना लिया है। सचमुच मैं अपने आपको परम भाग्यशाली मानता हूँ। किन्तु गुरुदेव ! गुरुदक्षिणा के रूप में मैं जो वस्तुएँ आपको भेंट कर चुका हूँ, उन्हें अपने गृहस्थ जीवन के उपयोग में भला मैं कैसे ला सकता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप कृपाकर उन्हें अंगीकार करें और अपने अमोघ आशीर्वाद को ही मेरी गृहस्थी के सम्बल रूप में प्रदान करें। वही मेरा सर्वाधिक कल्याण करने वाला होगा देव !'

रुरु की विनय भरी वाणी ने आचार्य की आँखों को भी सजल कर दिया। वे भी अपनी विह्वलता नहीं छिपा सके और रुरु को उठाकर गले लगाते हुए बोले—'प्रियवत्स तुम मुझे पुत्र के समान प्रिय हो। तुम्हारा जीवन सब प्रकार से सुखी और सम्पन्न हो—यह देखकर ही मुझे परमानन्द प्राप्त होगा। ऋषिवर प्रमति अब वृद्ध हो चुके हैं, तुम अभी नवयुवक हो। गृहस्थी की कठिनाइयाँ बहुमुखी होती हैं। ये सामग्रियाँ तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण-साधन करके मेरा सुख ही बढ़ाएंगी। मैं अत्यन्त प्रसन्नता और सुख से इन्हें तुम्हे प्रदान कर रहा हूँ वत्स। तुम अन्यथा न समझो। इतने दिनों तक तुम्हारी सेवा और प्रतिभा से हमें जो अपूर्व सुख मिला है, उसी का यह पुरस्कार मैं अपनी ओर से तुम्हें सौंप रहा हूँ।"

रुरु चुप हो गया। आचार्य की आज्ञा का उल्लंघन करना वह जानता ही नहीं था। उसकी इस स्पृहणीय सफलता की चर्चा आश्रम में गूँज गयी। अभी तक महर्षि भरद्वाज की ऐसी दुर्लभ कृपा को प्राप्त करने का संयोग आश्रम-जीवन में नहीं देखा गया था।

महर्षि भरद्वाज ने अपने प्रिय शिष्य का अवभृथ-स्नानकर उसे पुनः आशीर्वाद दिया और रुरु ने अपनी ओर से उस दिन समस्त सहाध्यायियों एवं आश्रमवासियों को गुरु कृपा द्वारा राजयज्ञ की दक्षिणा में प्राप्त सामग्रियों में से विदाई की मूल्यवान भेंटें दीं। आश्रम के सुखदायी जीवन में रुरु का जो अप्रतिम स्थान था दूसरे ही दिन से उसके रिक्त होने की

चिन्ता से सहाध्यायी विह्वल थे और महर्षि भरद्वाज भी बहुत चिन्तित थे। किन्तु यह तो एक दिन होना ही था। सभी निरुपाय और विवश होकर बड़ी विकलता से दूसरे दिन के अप्रिय प्रभा त की चिन्ता कर रहे थे। अन्ततः रात्रि बीती और सवेरा हुआ। प्रकृति की अपूर्व छटा से विमण्डित महर्षि भरद्वाज का आश्रम सर्वप्रिय रुरु की विदाई के प्रसंग से अति करुण हो उठा। तरुओं एवं लताओं के नीड़ों में चहचहाने वाले पक्षियों ने रुरु का गुणगान आरम्भ किया और ओस के बिन्दुओं के रूप में धरती ने अपने आँसू बहाए। उदास प्राची का मुख रक्त वर्ण का हो गया और तारों ने विदाई का यह दुःखद प्रसंग देखने की असमर्थता के कारण अपना मुंह अम्बर में ढँक लिया। चन्द्रमा का मुख मलिन हो गया और दिनमणि ने भी अपना आगमन कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया। ब्राह्ममुहूर्त के एक घड़ी बीत जाने के अनन्तर महर्षि भरद्वाज के चरणों पर शिर रखकर अपने सहाध्यायी सखाओं से गले मिलकर रुरु अपने पिता के आश्रम की ओर चल पड़ा। उसके संग आचार्य की दी हुई वह विपुल गृहस्थोपयोगी सामग्री थी, जिसे सैकड़ों भारवाही सशस्त्र राजपुरुष अब भी ढो रहे थे।

रुरु के चले जाने से महर्षि भरद्वाज का आश्रम सूना हो गया। सहाध्यायियों की सहज प्रसन्नता विलीन हो गयी और अनेक दिनों तक उसके वियोग के उपलक्ष्य में आश्रम में पूर्णतः अनध्याय रखा गया। किन्तु धीरे-धीरे पुनः पूर्वक्रम चालू हो गया और महर्षि भरद्वाज अपने सहस्रों शिष्यों को रुरु के उज्ज्वल जीवन को आदर्श बनाकर चलने की शिक्षा देते हुए अपना आ म जीवन संचालित करने लगे।

× × ×

अपने पिता महर्षि प्रमति के आश्रम में पहुँचकर रुरु ने अपना गृहस्थ जीवन आरम्भ करने का निश्चय किया। प्रमति का आदेश पाकर स्थूलकेश ने रुरु के संग प्रमद्वरा के चिर प्रतीक्षित विवाह का मंगल आयोजन रचा और शीघ्र ही आने वाले मंगल मुहूर्त में परिणय को सम्पन्न करने का सन्देश सर्वत्र भिजवा दिया गया। ऋषिवर प्रमति ने अपने एकलौते और

योग्य पुत्र के विवाह समारोह का सुन्दर आयोजन किया और उसमें भाग लेने के लिए महर्षि भरद्वाज को भी विनीत प्रार्थना भिजवाई। यही नहीं उन्होंने भूमण्डल में सुप्रसिद्ध सभी ऋषियों-मुनियों को निमंत्रण भेजकर इस मंगलायोजन में भाग लेकर रुरु को आशीर्वाद देने की प्रार्थना की। इसका कारण यह था कि ऋषिवर प्रमति अपने पुत्र रुरु के भविष्य के सम्बन्ध में बहुत शंकालु थे क्योंकि ज्योतिष के अनुसार उसके विवाह में किसी महान् अनिष्ट के घटित होने की सम्भावना थी। उनकी कल्पना थी कि समुपस्थित ऋषियों एवं मुनियों के आशीर्वाद रुरु के भावी अमंगल का विनाश करेंगे।

महर्षि प्रमति की प्रार्थना पर रुरु के विवाह में अनेक ऋषियों मुनियों ने भाग लिया, जिनमें से स्वस्त्यात्रेय, महाजानु कुशिक, शंखमेखल, उद्दालक, कठ, श्वेत कौणकुत्स्य, आर्ष्टिषेण और गौतम के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त अनेक ने आशीर्वाद और शुभ कामना के संदेश भेजे। स्वयं महर्षि भरद्वाज भी अपने शिष्यों के साथ विवाह में सम्मलित हुए। उन्होंने प्रमद्वरा के लिये स्वहस्तनिर्मित मंगल सूत्र दिया। उन्हें भी यह ज्ञात था कि कुमार रुरु के विवाह में कुछ अमंगल अवश्य घटित होगा किंतु उसमें घबराने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी महर्षि प्रमति भावी अमंगल की दुष्कल्पना में अन्त तक चिन्तित ही बने रहे।

प्रमति के आश्रम से बड़ी शान के साथ रुरु की बारात चली और महर्षि स्थूलकेश ने उसका विधिवत् स्वागत-समादर किया। प्रमद्वरा उनके जीवन की एक उज्ज्वल ज्योति थी। उसके त्रैलोक्य दुर्लभ रूप एवं देवोपम गुण के अनुरूप ही उन्होंने विवाह की सब तैयारियाँ की थीं। राजसमाजोचित स्वागत की क्रियाओं एवं उपहारों को सम्मलित करने में उन्होंने कोई प्रयत्न उठा नहीं रखा था।

गन्धर्वराज विश्वावसु और अप्सरा मेनका ने भी अपनी पुत्री प्रमद्वरा के विवाहार्थ अनेक स्वर्गीय उपहार लाकर स्थूलकेश को प्रदान किए थे। वे ऐसे मूल्यवान एवं दुर्लभ उपहार थे जिनका दर्शन भी भूमंडल पर दुर्लभ था। स्थूलकेश फूले नहीं समा रहे थे। विधाता ने उनकी चिर अभिलाषा पूरी की

थी। सब तरह से योग्य पात्र में अपनी प्राणप्रिय पुत्री को प्रदान कर वह अपने जीवन को निश्चिन्त बनाने का सुख-स्वप्न बहुत दिनों से देख रहे थे और बहुत दिनों से इसकी अपूर्व तैयारी भी उन्होंने कर रखी थी। मन के एकान्त कोने में संजोयी गई अभिलाषा को पूर्ण देखने का अवसर प्रत्येक पुरुष को नहीं मिला करता। परम सौभाग्य से ही स्थूलकेश को यह अवसर मिला था अतः परम ज्ञानी एवं विरक्त होने पर भी इस प्रसन्नता के कारण उनका चरण धरती पर नहीं पड़ रहा था। अत्यन्त उत्साह और उल्लास से वह भरे हुए थे।

विवाह अगले दिन था। महर्षि प्रमति के आश्रम से बारात आ गई थी। देश के सुप्रसिद्ध ऋषियों, मुनियों एवं सत्पुरुषों की उपस्थिति से स्थूलकेश का आश्रम जगमगा रहा था। गंधर्वों एवं किन्नरों के मधुर संगीत की सुधा-लहरी सर्वत्र जीवन की अमरता का संदेश बांट रही थी। कहीं धर्मोपदेश हो रहे थे और कहीं किसी पुण्य-कथा का प्रवचन चल रहा था। कहीं शास्त्र की गुत्थियाँ सुलझाई जा रही थीं तो कहीं जीवन की नश्वरता को चिरस्थायी बनाने की योजना पर विचार चल रहा था। बराती सभी आत्मविस्मृत हो कर परमानन्द लूट रहे थे और स्थूलकेश के आश्रमवासी जन स्वागत-समादर की क्रियाओं से थके-मांदे विश्राम कर रहे थे। रात्रि आधी से अधिक बीत चुकी थी। कुछ लोग शयन कर रहे थे और कुछ लोग अब भी कल क्या होगा इसका क्रम निश्चित करते हुए निद्रा देवी का आवाहन कर रहे थे।

इसी बीच एक महान दुर्घटना घटित हुई। एक भयंकर विषधर सर्प ने प्रमद्वरा के दाहिने पैर के अंगूठे को डँस लिया। वह भयंकर चीत्कार कर के उठ बैठी और करुणस्वर में विष-वदेना को प्रकट करते हुए क्षण भर में ही निःसंज्ञ बन गयी। उसकी विशाल एवं मनोहर विवर्ण आंखें पथरा गईं, मुख से फेन गिरने लगा, शोभन शरीर शीतल हो गया और धीरे धीरे काला पड़ने लगा। क्षणभर पूर्व मंगलायोजन में झूमने वाला स्थूलकेश का आश्रम शोक से व्याकुल हो गया। करुण क्रन्दन से भर गया और किंकर्त्तव्यविमूढ़ता की भावना से अभिभूत हो गया। बड़े-बड़े ऋषि,

मुनि, साधक, योगी, ज्ञानी, विज्ञानी, विषवैद्य और शल्य-चिकित्सक बैठे रह गए, किन्तु प्रमद्वरा को वापस लाने की शक्ति किसी में नहीं रह गई। सबके प्रयत्न विफल हो गए और विधि-विधान की क्रूरता पर दोषारोपण करते हुए सभी इस अकाण्ड ताण्डव पर अश्रु बहाने लगे।

रंग में भंग की इस भयंकर दुर्घटना के लिए ऋषिवर प्रमति तो पहले ही से कुछ न कुछ तैयार थे किन्तु ऋषिकुमार रुरु को इसका कुछ भी अनुमान नहीं था। शोकावेग से व्याकुल होकर वह धरती पर गिर पड़ा। धैर्य की क्षीण रेखा भी उसमें नहीं रही। उसका सम्पूर्ण शास्त्रीय ज्ञान, सारी प्रतिभा समस्त बुद्धिबल खर्वित हो गया। प्रखर चेतना कुण्ठित हो गयी। दैव के इस दुर्गम विधान में अपने को सर्वथा असमर्थ पाकर वह निःसंज्ञ सा बनने लगा। उसके पिता प्रमति ने उसे बहुत कुछ आश्वस्त करने का प्रयत्न किया किन्तु विफल रहे। प्रमति का अटूट विश्वास भी अब घटने लगा, उन्हें निश्चय हो गया कि प्रातःकाल होने तक रुरु का भी जीवित रहना कठिन है।

अन्ततः शोक की वह काली रजनी युग के समान किसी प्रकार बीत गई। भगवान् भास्कर ने आशा का अवलंब लेकर सब को कुछ न कुछ आश्वस्त किया किन्तु होता क्या? प्रमद्वरा की कमनीय कान्ति भयंकर हो चुकी थी, विष की दाहक ज्वाला ने उसके अनुपम लावण्य को जलाकर क्षार कर दिया था। उसके जिन मनोहर अंगों को देखकर कभी देवांगनाएँ भी स्पर्द्धा करती थीं, वे ही अब भय का संचार करने वाले बन गए थे। भयंकर निराशा के इस आधार में आशा का उदय किसी प्रकार भी संभव नहीं था। किन्तु उधर रुरु की अन्तश्चेतना लौट आयी थी, वह प्रातःकाल ही उठ गया था और संध्या-वंदनादि से निवृत्त होकर प्रमद्वरा का अंतिम दर्शन करके अपने कठोर कर्त्तव्य को पूरा करने का निश्चय बना चुका था। निदान प्रमद्वरा के समीप पहुँचकर उसने उसे अपनी शोक-विह्वल आँखों में भर लेने का व्यर्थ प्रयास किया और तदनन्तर अत्यन्त उदास और भारी मन से भागीरथी के निर्जन तट की ओर प्रस्थान किया। प्रमति तथा

अन्य ऋषियों-मुनियों ने समझा, रुरु किसी विषहन्त्री जड़ी की तलाश में जा रहा है। अतः उसे न तो किसी ने रोका और न किसी ने उसका अनुगमन ही किया।

भगवती भागीरथी के उसी मनोहर घाट पर पहुँच कर रुरु ने अपने करुणाविगलित हृदय में प्रमद्वरा का पुनः स्मरण किया, जहाँ प्रथम बार उसने उसका दर्शन किया था। सात्त्विक प्रेम की उज्ज्वल प्रभा से उसका अन्तरमन पूरित हो गया और अत्यन्त प्रसन्नता से उसे रोमांच हो आया। उसने अनुभव किया, इस लोक में अब प्राणप्रिया प्रमद्वरा से साक्षात् होना असंभव है, क्योंकि वह देवलोक में उत्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा कर रही है। उस जैसी स्वर्गीय सुषमा एवं सद्गुणों से समन्वित देवी को इस पार्थिव शरीर से प्राप्त करना सुगम नहीं है। अतः इसका परित्याग करना ही उचित है, क्योंकि सम्पूर्ण विद्या, कला एवं योग्यता प्राप्त करके भी प्रमद्वरा के बिना धरती पर जीवित रहना व्यर्थ है। ऐसा विचार कर रुरु ने भागीरथी की पावन धारा में अपने पार्थिव शरीर को त्यागकर प्रमद्वरा को शीघ्र से शीघ्र प्राप्त करने का दृढ निश्चय किया। वह बिना किसी विकल्प के ही भागीरथी के प्रवाह में डूबने जा रहा था कि अकस्मात् उसे बादलों की घोर गर्जना सुनाई पड़ी। ऐसा दिखाई पड़ा, मानों दिशाएँ नाच रही हों, धरती करवट बदल रही हो और गंगा की धारा में से भयंकर स्वर सुनाई पड़ रहा हो। वह स्तम्भित हो गया। उसने आँखें उठाकर तटवर्ती प्रदेश को जब देखा तो दिखाई पड़ा कि सभी वृक्ष काँप रहे हैं, पशु-पक्षी कोलाहल करते हुए भाग रहे हैं और क्षण भर पूर्व बहने वाली वायु की गति प्रचण्ड तूफान सी बन गयी है। क्षण भर में ही प्रकृति के इस घोर विपर्यय को देखकर वह विस्मित हो रहा था कि उसे गंगाप्रवाह के भीतर से अशरीरिणी वाणी सुनाई पड़ी। वह इतनी गंभीर और भयानक थी कि उसे सहसा अपने कानों पर विश्वास ही नहीं हुआ कि यह सब क्या हो रहा है।

वह वाणी यों सुनाई पड़ रही थी—'ऋषिकुमार! तुम्हारी विद्या

और प्रतिभा का यह परिणाम संसार में अनेक अनर्थों को जन्म देने वाला है। आत्महत्या करने वाले का परलोक भी कभी सुखमय नहीं होता। संसार में जन्म लेने का यही फल है कि उसकी सम्पदा एवं विपदा का भोग किया जाय। जो पामर प्राणी सांसारिक विपदाओं से मुक्ति पाने के लिए अपना जीवन नष्ट कर देता है वह आत्महन्ता है। ऐसे पापी का उद्धार करोड़ों जन्मों में भी नहीं होता। उसे कठोर असूर्या नामक नरक की यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। तुम यह नहीं जानते कि तुममें कितनी शक्ति भरी हुई है। अपनी शक्ति की परख किए बिना ही तुम अपना बहुमूल्य जीवन समाप्त कर रहे हो। धिक्कार है ऐसी मूर्खता को। तुम गंगा जल की पवित्रता को कलंकित करने जा रहे हो। ऐसा मत करो।'

इस गंभीर एवं भयंकर अशरीरिणी वाणी को सुनकर रुरु की शास्त्रीय चेतना वापस लौट आयी। उसने विचार किया कि सचमुच मैं अत्यन्त घोर नरक की यात्रा पर क्यों अपना पग बढ़ाए जा रहा हूँ। वह गंगा की पावन धारा से बाहर निकलकर स्फटिकमणिनिर्मित्त घाट की एक सीढ़ी पर शिर नीचा करके पुनः बैठ गया और अपनी इस भूल पर पश्चात्ताप करने लगा। उसके दाहिने हाथ पर उसका मस्तक टिका हुआ था और उसका बायाँ हाथ वक्षस्थल पर था। इसी बीच उसे पुनः कुछ प्राकृतिक उत्पात दृष्टिगोचर हुए। गंगा की द्रुत वेगवती धारा से पुनः उसी प्रकार की धीर गंभीर किन्तु भयंकर वाणी सुनाई पड़ी—

'पुरुष! तुम अपने भूले हुए पुरुषार्थ का स्मरण करो। वही तुम्हारा उद्धार करेगा।' रुरु ने जैसे ही यह वाणी सुनी वैसे ही अटूट आत्म-विश्वास से उसका हृदय तरंगित हो उठा। उसकी पीन बलिष्ठ भुजाएँ फड़कने लगीं, कुंठित चेतना उज्ज्वल हो गयी और बुद्धि के निर्मल प्रकाश में उसे अपना कर्त्तव्य रत्न की भाँति चमकता हुआ दिखाई पड़ा। उसने सोचा कि 'मैं स्वयमेव प्रमद्वरा को जीवित करने की शक्ति रखता हूँ। उसे मैं इसी जीवन में प्राप्त कर सकता हूँ। संसार में ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो मेरे मार्ग से उसे दूर हटा सके।' ऐसा निश्चय कर वह पुनः गंगा की

क्षिप्र धारा में प्रविष्ट हो गया और कुछ दूर जाकर अपने दाहिने हाथ में जल लेकर उसने यह सत्संकल्प करना शुरू किया—

'परमात्मन्! यदि मैंने अपने अब तक के जीवन में कोई पाप न किया हो, किसी का अनुपकार न किया हो, केवल धर्म एवं पुण्य की अर्चनाएँ की हों, वेदों, शास्त्रों एवं गायत्री के अनुशीलन में शरीर को कष्ट पहुँचाया हो, योगराधना की हो, देवताओं, गुरुजनों एवं अपने सहगामियों पर अटूट भक्ति, श्रद्धा, विश्वास और स्नेह किया हो, सूर्य की अविचल आराधना से कभी वंचित न हुआ होऊँ, तो मेरी प्राणबल्लभा प्रमद्वरा को पुनः जीवन दान मिले। और यदि वेदों, शास्त्रों एवं योगाराधन में कोई शक्ति है, धर्म एवं पुण्य की अर्चना में कोई शक्ति है, सूर्य, सावित्री एवं देवताओं भी भक्ति का कोई फल है, गुरुजनों की सेवा और श्रद्धा का कोई सुपरिणाम है, पापों से बचने का कोई पुण्य है, तो उन सब की समवेत शक्ति से मेरी प्राणबल्लभा प्रमद्वरा को पुनः जीवन प्राप्त हो। यदि ऐसा नहीं होता तो मैं समझूंगा कि के सब जप-तप झूठे हैं, प्रपंच हैं। इनकी आराधना व्यर्थ है और मैंने अपना जीवन व्यर्थ ही बिताया है।'

रुरु को अपने अतीत जीवन की सात्विकता और शक्ति पर अगाध विश्वास था, उसने जो कुछ कहा था, उसके प्रति उसके हृदय में अटूट निष्ठा थी। उसके इस सात्त्विक संकल्प के पूरा होते ही गंगा की धारा में पुनः ज्वार का सा दृश्य उपस्थित हो गया और धरती, आकाश तथा प्रकृति में उपद्रव पुनः उसी प्रकार होते दिखाई पड़ने लगे। उसे पुनः वही भयंकर अशरीरिणी वाणी सुनाई पड़ी। वह कह रही थी—'ऋषिकुमार रुरु! तुम इस प्रकार का दुःसाहस मत करो। इस मर्त्यलोक में कोई भी मृतक कभी जीवित नहीं हुआ। तुम्हारी प्रेयसी प्रमद्वरा अप्सराओं की रानी मेनका की कन्या थी। गन्धर्वराज विश्वावसु के संयोग से उसका जन्म इस धरती पर इतने ही दिनों के लिए हुआ था। अब वह तो तुम्हें किसी प्रकार भी नहीं प्राप्त हो सकती। हाँ, यह संभव है कि उसे छोड़कर यदि

तुम किसी अन्य देवकन्या को वरण करना चाहो तो तुम्हारी साधना के फलस्वरूप उसकी प्राप्ति हो सकती है।'

रुरु ने बीच में ही चिल्ला कर कहा—'मुझे प्रमद्वरा को छोड़कर संसार में किसी भी स्त्री की कामना नहीं है। वही मेरे जीवन का आधार है। एक बार मैं उसे अपना बना चुका हूँ, अब किसी अन्य सुन्दरी के लिए मैं अपना जीवन नहीं दे सकता, भले ही वह रूप, यौवन तथा गुणों में प्रमद्वरा से श्रेष्ठ हो।'

वाणी पुनः आविर्भूत हुई। उसने कहा—'रुरु! तुम्हारा हठ औचित्य की सीमा से बहुत दूर पहुँच चुका है, किन्तु विवश होकर वेदों एवं शास्त्रों की मर्यादा-रक्षा के लिए तथा सत्कर्मों एवं साधना के सुपरिणाम स्वरूप तुम्हारे दुराग्रह को पूरा बनाना ही होगा। इसके लिए तुम्हें अपना आधा जीवन दान करना होगा। यदि तुम ऐसा करने को तैयार हो तो गंगा का पावन जल लेकर इसका संकल्प ग्रहण करो।'

रुरु ने कहा—'अदृश्य देव! मैं तो अपना सम्पूर्ण जीवन प्रमद्वरा के लिए दे रहा था, यह तो आपकी कृपा है जो मेरे आधे जीवन के द्वारा ही प्रमद्वरा मुझे मिल रही है। मैं उसे अपना आधा जीवन सहर्ष देने को तैयार हूँ।'

यह कह कर रुरु ने अपने दक्षिण कर में पवित्र गंगाजल लेकर अपने जीवन का अर्धांश प्रमद्वरा के लिए प्रदान करने का ज्यों ही सत्संकल्प ग्रहण किया, त्योंही शोकाकुल स्थूलकेश के अजिर में सुन्दरी प्रमद्वरा ने गहरी नींद से उठने की भाँति अंगड़ाई ली। उसके पुनर्जीवन का यह दृश्य देखकर चारों ओर प्रसन्नता का समुद्र लहराने लगा और ऋषिवर प्रमति तथा भरद्वाज ने उस मंत्रपूत मंगलसूत्र का विधिवत् पूजन करके सब को अपनी आशंका का समाचार कह सुनाया।

शोक-संवेग से पीड़ित और निराश स्थूलकेश का आश्रम पुनः प्रसन्नता और उल्लास से परिपूर्ण हो गया। निश्चित मंगल मुहूर्त में ऋषि-कुमार रुरु के साथ प्रमद्वरा का परिणय सम्पन्न हो गया। उपस्थित ऋषियों,

मुनियों एवं साधक तपस्वियों ने त्रैलोक्य के इस सर्वाधिक भाग्यशाली दम्पति को अपने शुभाशीर्वचनों से अनुगृहीत किया तथा देवताओं और अप्सराओं ने गन्धर्वों के साथ मिलकर आकाश यान से मंगलगीत गाते हुए पारिजात के पुष्प बरसाए।

गन्धर्वराज विश्वावसु और मेनका अपनी पुत्री प्रमद्वरा को योग्य पति के साथ देखकर परम प्रसन्न हुए और महर्षि स्थूलकेश, भरद्वाज तथा प्रमति ने एक दूसरे को गले लगाते हुए अपने-अपने सौभाग्य की सराहना की।

श्यावाश्व को ऋषित्व की प्राप्ति

महाराज रथवीति की यज्ञों में विशेष निष्ठा थी। वे सदैव किसी न किसी यज्ञ के सदनुष्ठान में अपना उत्तर जीवन व्यतीत किया करते थे। उनकी राजधानी में देश के बड़े-बड़े ऋषियों-महर्षियों की मण्डली बराबर आती-जाती रहती थी। और कुछ ऋषि तो ऐसे भी थे जो सदैव वहीं निवास ही करते थे। राजधानी में राज-प्रासादों की पंक्तियों से अनतिदूर महाराज ने ऋषियों के निवासार्थ मनोहर आश्रमों का निर्माण करा दिया था, जहाँ तपोवन की भाँति ऋषियों-मुनियों के जीवन-यापन की सभी सामग्रियाँ सुलभ रहती थीं। विविध प्रकार के पशु-पक्षी विचरण करते रहते थे। सरोवरों और सरिताओं के तटों पर मनोहर घाट बने हुए थे और लता कुंजों तथा कृत्रिम गुफाओं में योगाराधन एवं साधना के प्रेरक-स्थल निर्मित थे। प्रतिदिन सायं-प्रातः यज्ञों की पावन धूम-पंक्ति से आश्रम आमोद और आनन्द से पूरित हो जाता था तथा स्वाहा एवं वषट्कार की मांगलिक ध्वनि से आकाश गूँज उठता था। महाराज रथवीति प्रतिदिन अपराह्न में उस आश्रम में पहुँच जाते थे। मंत्रिपरिषद् भी उनके साथ ही जाती थी और सभी प्रतिदिन राज-काज के झंझटों से दूर रह कर वहाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष पर उन परोपकारी एवं साधक ऋषियों-मुनियों के सदुपदेश सुनते थे।

महाराज रथवीति की राजधानी का यह पवित्र और प्रेरक वातावरण उनके समूचे राज्य के लिए वरदान सदृश था। इसके कारण प्रजा और शासक वर्ग के सभी व्यक्तियों के हृदय में दया, परोपकार, सहानुभूति, कष्ट-सहिष्णुता, परमात्मचिंतन, यज्ञाराधन एवं राज्य-हित-चिन्ता समान रूप से विराजती थी और किसी में छल-कपट, ईर्ष्या-द्वेष अथवा वैर-विरोध की दुर्भावना भूलकर भी नहीं बसती थी। प्रजा के सत्कर्मों एवं सदुद्योगों में शासन की सम्पूर्ण शक्ति स्वतः समर्पित हो उठती थी और इसी प्रकार राज्य

के नियम एवं अनुशासन के प्रति प्रजा के हृदय में सच्ची निष्ठा रहती थी। एक दूसरे के सहायक और परामर्शदाता थे तथा उनमें शासक और शासित की भेद मूलक भावना की गन्ध भी नहीं रह गई थी। महाराज रथवीति का प्रजावर्ग में अपार सम्मान था। जहाँ कहीं वह जाते थे उनके दर्शनों के लिए अपार भीड़ एकत्र हो जाती थी और वह भी ऐसे सहृदय विवेकवान तथा परदुःखकातर थे कि प्रतिदिन राज्य की सीमा के भीतर से दर्शनार्थ आने वाले प्रत्येक व्यक्ति की बातें ध्यान से सुनते थे। अनीति और अन्याय की बातें तो दूर वह प्रजा की दैवी और पारिवारिक विपदाओं में भी हाथ बंटाते थे। प्रजा के शारीरिक रोगों एवं व्याधियों के लिए चिन्ता करते थे। उनकी घोषणा थी कि हमारे राज्य में कोई भी ऐसा रोगी, दुःखी अथवा दरिद्र नहीं रहेगा जो राज्य से सहायता न प्राप्त करता हो। अनाथ वृद्धों, महिलाओं तथा बच्चों की रक्षा एवं पालन-पोषण का सब भार उन्होंने शासन पर डाल रखा था और स्वयमेव सम्पूर्ण व्यवस्था की देखरेख रखते थे। उनके सुचतुर मंत्रियों की एक वृहत् परिषद् यद्यपि दिन रात उनके आदेशों के पालन में दत्तचित्त रहती थी, तथापि वह अपनी दैनिक चर्या से जो कुछ भी समय बचा पाते थे, इन्हीं कामों में लगाते थे। प्रजा एवं राज्य के कल्याण-कार्यों के सम्मुख वह अपने शरीर की भी सुधि-बुधि भूल जाते थे और सभी कार्यों में ऐसी रुचि एवं लगन रखते थे मानों प्रतिदिन प्रातःकाल नूतन उल्लास एवं उत्साह से उनका शरीर भर जाता हो। किसी ने कभी उनके कार्यों में प्रमाद अथवा उपेक्षा का लेश भी नहीं देखा। विद्युत् तरंगों की भाँति नित-नूतन शक्ति के अजस्र-स्रोत से परिपूरित उनकी कार्यशैली सब को आश्चर्य में डुबो देने वाली थी।

यद्यपि वैदिक यज्ञ-यागादि का सदनुष्ठान प्रतिदिन किसी न किसी रूप में उसकी राजधानी में हुआ ही करता था तथापि उनके राज्यारोहण की जब वार्षिक तिथि आती थी तो समूची राजधानी यज्ञ की पावन धूम-राजि से आमोदित एवं पुलकित होकर एक नूतन स्वरूप धारण कर लेती थी। भूमण्डल के प्रत्येक अंचल में विख्यात ऋषियों-मुनियों को इस महान्

आयोजन में अनुरोधपूर्वक बुलाया जाता था। ऐसा कोई भी कर्मकांडी विद्वान, होता, पुरोहित अथवा वैदिक मंत्रों का रहस्य जानने वाला ऋषि नहीं रह जाता था जो महाराज रथवीति के इस वार्षिक यज्ञ-समारोह में आहूत होकर उपस्थित न होता हो। इस महान् यज्ञ-समारोह की महिमा का वर्णन संक्षेप में इसी प्रकार बता देना उचित होगा कि यज्ञावसान के अनन्तर महाराज का कोश बिल्कुल रिक्त हो जाता था। दान-दक्षिणा की उस पवित्र धारा में वह अपना सर्वस्व लुटा देते थे। निजी वस्त्राभूषण की तो बात ही क्या वह अपने भोजन एवं शयनादि के प्रसाधनों एवं पात्रों को भी दान में दे देते थे और पूर्णाहुति के दूसरे दिन अति सामान्य जन की भाँति मृत्तिका के भाण्डों में भोजन कर वह अपने को कृतार्थ मानते थे। महाराज की इस अतुलनीय एवं दर्शनीय दानशीलता की चर्चा समस्त भूमंडल पर सबको ज्ञात थी, अतः जब यज्ञ का समारोह आरम्भ होने को होता था तब चतुर्दिक् से लाखों की संख्या में दर्शनार्थी जन भी इस यज्ञ समारोह के अवसर पर उनकी राजधानी में आ जाते थे। महाराज के आदेशानुसार वे सभी दर्शनार्थी जन भी उनके मान्य अतिथि का सत्कार पाते थे और विदाई के अवसर पर उन्हें भी स्वदेश वापस जाने की सुलभ सुविधाएँ एवं इच्छित वस्तुएँ प्रदान की जाती थीं।

इस प्रकार महाराज रथवीति के इस महान् याज्ञिक समारोह की चर्चा उस समय सम्पूर्ण भूमण्डल के कोने-कोने में व्याप्त थी। बड़े बूढ़ों के मुख से सुनी गई इसकी आकर्षक कथाएँ बच्चों एवं नवयुवकों को अनायास ही अपनी ओर खींच लेती थीं और इसका परिणाम यह होता था कि प्रति वर्ष के समारोह में भाग लेने वालों की संख्या उत्तरोत्तर वर्धमान होती जा रही थी। महाराज रथवीति के राज्य की सुख-समृद्धि भी उत्तरोत्तर उसी प्रकार बढ़ती जा रही थी और सम्पूर्ण प्रजा ने इस समारोह को अपना राष्ट्रिय समारोह मान लिया था। शासन का संकेत एवं आदेश न होने पर भी प्रजा अपनी इच्छा से इतनी विपुल सामग्री एवं धनराशि प्रदान करती थी कि उसके विधिवत् वितरण एवं संप्रदान

की व्यवस्था में शासन को अधिक शक्ति लगानी पड़ती थी।

× × ×

ऐसे ही एक बार महाराज के वार्षिक यज्ञ समारोह का पावन प्रसंग उपस्थित था। उनकी राजधानी यज्ञकर्त्ता ऋषियों, मुनियों, पुरोहितों, ब्राह्मणों एवं देश-देशान्तर के लाखों समुत्सुक दर्शनार्थियों के प्रसन्न-मुखों से उद्-भासित हो रही थी। धर्म पुण्य एवं परमार्थ की प्रेरक सद्भावना से सब के अन्तर्मन में एक विचित्र रसानुभूति हो रही थी और अपने-अपने को सभी धन्य मान रहे थे।

महाराज के यज्ञाचार्य महर्षि अत्रि के सुयोग्य एवं सर्वज्ञाता पुत्र ऋषिवर अर्चनाना थे। अत्रि के विश्वव्यापी तपः तेज एवं निजी ब्रह्मवर्चस् की अक्षुण्ण साधना की पावन दीप्ति से उनका मुखमण्डल सूर्य की भाँति प्रकाशमान हो रहा था। उनके आनन्द पूरित नेत्रों में वेदों एवं शास्त्रों के अगाध ज्ञान की गरिमा सहज रूप में उत्फुल्ल हो रही थी। और उनकी रसवन्ती वाणी में उनके प्रकर्ष पाण्डित्य की अद्भुत छाप थी। उनका तेजस्वी मुख मण्डल यज्ञ मण्डप में समुपस्थित सभी ऋषियों-मुनियों के तेज को तिरोहित-सा कर रहा था। उनकी इस अलौकिक छवि का अनुमान अनायास ही यज्ञ के समस्त दर्शनार्थियों को भी हो रहा था। सभी उनके संकेतों, उनकी वाणी एवं उनके कार्यकलापों में एक दैवी शक्ति का आभास मान रहे थे क्योंकि किसी भी वार्षिक यज्ञ-समरोह में उनकी इस अतुलनीय प्रतिभा एवं शोभा के दर्शन किसी को नहीं हुए थे।

महाराज रथवीति के आग्रह एवं अनुरोध की रक्षा के लिए ऋषिप्रवर अर्चनाना अपने पचीस वर्षीय पुत्र श्यावाश्व को लेकर इस समारोह में सम्मिलित हुए थे। श्यावाश्व ने अभी इसी सत्र में अपनी गुरुकुल की शिक्षा समाप्त की थी। समस्त वेदों एवं शास्त्रों की ग्रंथियों को उन्होंने आत्मसात् कर लिया था और ज्ञान, कर्म काण्ड तथा आराधना के गूढातिगूढ रहस्यों को भली भांति हृदयङ्गम कर लिया था। परमात्मा ने श्यावाश्व के सुघड़ शरीर की रचना बड़ी तत्परता से की थी। अखण्ड ब्रह्मतेज की उज्ज्वल आभा

से उनके तारुण्य की चमक चौगुनी हो गयी थी। सुन्दरता में तो वह राज कुमारों कोभी लज्जित करने वाले थे। विशाल वक्षस्थल, पुष्ट स्कन्ध, बलवान् एवं जानु तक फैली सुन्दर भुजाएँ, उंचा डील डौल और गौर पुष्ट शरीर पर दर्शकों को अनायास आकृष्ट करने वाली छोटी-छोटी विरल श्मश्रुओं से विमण्डित मुखमण्डल। उनके रक्ताभ होठों में सहज प्रसन्नता की चपल रेखा प्रतिक्षण क्रीड़ा करती थी और मेघ निर्घोष के समान उनकी धीर-गंभीर वाणी में लाखों व्यक्तियों को क्षण भर में मंत्रमुग्ध कर देने की क्षमता थी। उनके विशाल नेत्र रक्त-कमल-दलों का अनुकरण करते थे और उनके वृहत ललाट, लंबे कर्ण एवं दीर्घ नोकीली नासिका का तो सामुद्रिकों के अनुसार यही सुपरिणाम होना था कि संसार के दुर्लभ पदार्थों को देखने, सुनने एवं अनुभव करने के लिए ही निपुण विधाता ने उनकी रचना की है। श्यावाश्व की अनुपम छटा पर यज्ञमण्डप में उपस्थित सभी नर-नारी, ऋषि-मुनि मुग्ध थे। यज्ञ की पावन ज्वाला के समान ही उनके अमंद तेज एवं मनोहर सौन्दर्य की ज्योति भी आकर्षण का एक विन्दु बनी हुई थी। आचार्य अर्चनाना के आसन के वामभाग में उनकी ही भाँति विरचित एक शुभासन पर श्यावाश्व भी शोभायमान थे। यद्यपि यज्ञ-समारोह में सविधि सम्मिलित पुरोहितों एवं आचार्यों में वह यज्ञ-परम्परा के अनुसार भाग नहीं ले सकते थे तथापि महाराज रथवीति के अनुरोधवश उन्हें भी उप आचार्यत्व का कार्य भार सौंपा गया था। वह बड़ी तत्परता और निष्ठा से अपने आसन पर विराजमान थे।

यज्ञ का आरम्भ हो चुका था। अग्न्याधान के अनन्तर वैदिक परम्पराओं के प्रणेता एवं उपदेष्टा ऋषियों-मुनियों की आज्ञा से महाराज रथवीति सपत्नीक यज्ञ-मण्डप में अपने आसन पर विराजमान हो चुके थे। चतुर्दिक विचित्र कोलाहल था। वेदमंत्रों की सस्वर पावन ध्वनि दर्शकजनों के कुतूहल मिश्रित हर्षोद्गारों में मिलकर सुविस्तृत यज्ञ शाला को मुखरित कर रही थी। वन्दियों एवं मागधों की पंक्तियाँ समुत्सुक एवं उत्कंठित दर्शकों के विस्मय को बढ़ाती हुई यज्ञ-मण्डप से अनतिदूर मंगल पाठ में

निरत हो चुकी थीं और मांगलिक गीतों एवं वाद्यों की समवेत ध्वनि समूची राजधानी को अपने ही शब्दों को सुनाने में असमर्थ बना रही थी। अपार हर्ष, उल्लास एवं उत्सुकता की चरम सीमा सब के सम्मुख थी।

ऋषि, मुनि, पुरोहित, ब्राह्मण, पुरजन, परिवार एवं आत्मीय जनों के बैठने की यज्ञ-मण्डप में पृथक् पृथक् व्यवस्था थी। महाराज रथवीति एकाग्र चित्त से अपनी प्रमुख महारानी के साथ पूर्वाभिमुख होकर यज्ञ कुण्ड में प्रथम आहुति देने जा रहे थे कि इसी बीच उनकी एकलौती कन्या सुदर्शना यज्ञमण्डप में प्रविष्ट हुई। किसी गृह-कार्य में व्यस्त होकर वह यथासमय अपने आसन पर नहीं बैठ पाई थी। उसके आते ही समूचे यज्ञ-मण्डप में उत्सुकता एवं उल्लास की एक नई लहर दौड़ पड़ी। सभी ऋषि-मुनि अपने अपने कार्यों से क्षण भर के लिए विरत होकर उसकी ओर निहारने लगे। महाराज रथवीति और उनकी महारानी की आंखें भी उसकी ओर दौड़ पड़ीं। अपनी प्रिय सन्तान की उपस्थिति से महाराज की सहज प्रसन्नता द्विगुणित हो गयी और महारानी का मुख-कमल विकसित हो गया।

महाराज रथवीति की एकलौती कन्या सुदर्शना संसार की अद्वितीय सुन्दरी थी। उसके अनुपम रूप-लावण्य एवं सद्गुणों की चर्चा से प्रायः समूचा देश परिचित हो चुका था। महाराज के अक्षय पुण्य एवं परोपकार की मानों वही जीवन्त प्रतिमा थी। उस जैसी परम सुन्दरी, सर्वगुणोपेता एवं विधाता की अनुपम कृति कन्या-रत्न को पाकर महाराज रथवीति फूले नहीं समाते थे। वह स्वयं यह अनुभव करते थे कि सुदर्शना ही हमारे जीवन की अक्षय-निधि है। उसका पिता होकर मैं संसार में धन्य हूँ। महाराज ही क्या समस्त परिजन, पुरजन एवं सम्बन्धी लोग भी सुदर्शना के मनोमोहक स्वभाव एवं परमानन्ददायी सौन्दर्य को देखकर सन्तृप्त हो जाते थे। सुदर्शना की इस आकस्मिक उपस्थिति से यज्ञ-मण्डप में जो अपूर्व चेतना जाग्रत हुई उसका अनुमान आचार्य अर्चनाना की ध्यान-मग्न चित्त वृत्ति से भी अस्पृष्ट नहीं रहा। अपने मनोहर एवं ध्यानाभ्यासी नेत्रों को खोल कर उन्होंने भी सुदर्शना की ओर उठाया और कुछ क्षण तक उधर से प्रयत्न करके

भी वह उन्हें हटा नहीं सके। अमृत की पावन-धारा के समान सुदर्शना को देखकर उन्होंने अपने में अपूर्व शीतलता का अनुभव किया। अपने जीवन में उन्हें ऐसे अपूर्व सौन्दर्य का दर्शन कभी नहीं हुआ था। आसन, प्रतिष्ठा एवं आकृति से उन्होंने यह अनुमान तुरन्त लगा लिया कि यही यह राज-कन्या सुदर्शना है जिसके विवाह की चर्चा महाराज कर रहे थे। विवाह का स्मरण करते-करते ही उन्हें अपने सुयोग्य पुत्र श्यावाश्व के विवाह की भी स्मृति आई, जिसे गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित कर वह निश्चिन्त होना चाहते थे। सुदर्शना की अपार रूपराशि पर पवित्र भावना से विमुग्ध अपनी आँखों को हटा कर ऋषिवर अर्चनाना ने अपने पुत्र श्यावाश्व की ओर भी देखा, जो उनके समीप ही बाँई ओर विराजमान था। उन्होंने पहली बार यह अनुभव किया कि उनका पुत्र श्यावाश्व आज कितना सुन्दर, सुयोग्य और आकर्षक लग रहा है। राजकुमारी सुदर्शना की अपार मोहक छवि का चारितार्थ्य यदि संसार में कहीं भी खोजा जा सकता है तो वह उनके सुयोग्य पुत्र श्यावाश्व में ही प्राप्त हो सकता है। श्यावाश्व की मनोहर रचना विधाता ने सुदर्शना के लिए ही की है—यह अद्भुत प्रेरणा, अचर्नाना के प्रशान्त मानस में अकस्मात् जाग्रत हो उठी और वह क्षण भर के लिए आत्मीयता एवं ममता के इस पार्थिव लोक में इतनी तन्मयता से उतर पड़े कि यज्ञीय कार्य-कलापों की ओर उनका ध्यान भी नहीं रहा। अनुष्ठान का पूर्व प्रसंग विस्मृत हो गया और ध्यान-मग्न आखों में तथा प्रशान्त मानस में सुदर्शना और श्यावाश्व की मनोहर जोड़ी नाचने लगी। आँखें चंचल हो गयीं, वाणी मन्थर हो गयी और द्रुतगामी चित्त ने वैदिक कर्म काण्डों की दुनियां से सम्बन्ध विच्छिन्न कर उस मनोहारि कल्पना का ताना बाना लगाना शुरू कर दिया जिसमें सुदर्शना उनकी पुत्रबधू के रूप में उनके स्वर्गोपम आश्रम की शोभा बढ़ाने वाली होगी।

महाराज रथवीति महारानी समेत प्रकृतिस्थ हो चुके थे। यज्ञ में सम्मिलित अन्यान्य ऋषि-मुनि आदि भी अपने अपने आगामी अनुष्ठानों की ओर दत्तचित हो चुके थे। यज्ञ मण्डप का कोलाहल शान्त हो

चुका था किन्तु आचार्य अर्चनाना कभी क्षण भर सुदर्शना की ओर और कभी क्षण भर श्यावाश्व की ओर देखने का अपना क्रम अब भी समाप्त नहीं कर पा रहे थे। उनकी द्रुत-गामी मनःकल्पना इस समय अपने भाग्यशाली पुत्र के भावी जीवन की मधुरिमा में नृत्य कर रही थी। उनके कानों में वत्सलता का एक अद्भुत संगीत सुनाई पड़ रहा था और उनकी आँखों में श्यावाश्व और सुदर्शना को छोड़कर कोई तीसरा प्राणी नहीं रह गया था। सहस्त्रों पुरोहितों एवं ऋषियों-मुनियों से आकीर्ण उस यज्ञ-मण्डप में विस्मय का एक अद्भुत वातावरण उपस्थित हो गया। आचार्य अर्चनाना की इस उत्कण्ठा एवं विक्षेप मुद्रा से सभी चिन्तित होने लगे। उनके मन की यह विचित्र स्थिति किसी से छिपी नहीं रह सकी। उनके मूक किन्तु समुत्सुक नेत्रों ने बारम्बार श्यावाश्व और सुदर्शना की ओर संकेत करके अपने गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन कर दिया था। महाराज रथवीति मंत्रियों, परिवार के व्यक्तियों, पुरजनों एवं संबंधियों की ओर देखकर लज्जा समेत अवनत-मुख होते जा रहे थे किन्तु उनमें आचार्य को उद्बोधित करने की क्षमता नहीं थी। उनके संकेतों को समझकर उनके महामात्य ने आचार्य का ध्यान यज्ञ के आगामी कार्य कलापों की ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न करते हुये विनम्र स्वर में कहा—

'पूज्य आचार्य ! यज्ञ की पावन आहुतियाँ कुछ क्षण से मंत्र विहीन हो रही हैं, कृपया अब आगे का कार्य आरम्भ कर यज्ञ को सफल बनाएँ।'

आचार्य अर्चनाना की चिन्ताधारा टूट गयी। उन्होंने देखा, यज्ञ कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि की प्रदीप्त ज्वाला धीमी होती जा रही है और विधि विहित आहुतियों की राशि पर श्रोताओं के हाथ कभी से रुके पड़े हैं। सब की उत्सुक आँखें उन्हीं की ओर हैं और मण्डप में नीरवता तथा औत्सुक्य का साम्राज्य है। वे कुछ कुण्ठित से हो उठे और महाराज तथा महामात्य की ओर अपनी लज्जित मुख-मुद्रा को मोड़कर धीर गम्भीर स्वर में बोले—

'क्षमा करें देव ! मेरा चित्त यज्ञशाला से दूर बहक गया था। अब मैं प्रकृतिस्थ हूँ और सावधान मन से यज्ञ की सब क्रियाएँ सम्पन्न करा रहा हूँ।'

आचार्य की इस स्वीकारोक्ति ने महाराज के रहे-सहे सन्देह को पुष्ट कर दिया और यज्ञ-मण्डप में समुपस्थित ऋषियों मुनियों आदि ने यह मान लिया कि यज्ञारम्भ का यह लघु अन्तराय अवश्य ही किसी न किसी महती घटना की अवतारणा करके ही हटेगा।

यज्ञ सविधि सम्पन्न होने लगा किन्तु सब के अन्तर्मन में आचार्य अर्चनाना के विक्षेप की वह अप्रिय चर्चा अपना स्थल बना चुकी थी। श्यावाश्व और सुदर्शना के चित्त भी चंचल हो चुके थे, क्योंकि उनकी रस-भींगी आखों में एक दूसरे के अनुपम यौवन और अपार सौन्दर्य की रेखा समा चुकी थी। युवा शरीर के किसी चंचल कोने में प्रसुप्त ऐसे-ऐसे मधुर भाव उनमें उठने लगे थे, जिनकी ओर दोनों का कभी ध्यान भी नहीं गया था। संयोगात् उनके बैठने का स्थान एक दूसरे के आमने-सामने पड़ता था। कुछ क्षण बाद दोनों की चंचल और विशाल आँखें ऊपर उठ कर अपने आप ही अपूर्व आनन्द पा लेती थीं। उनके शरीर में अनेक बार रोमांच हुए, स्वेदोद्गम हुए, श्वासें लम्बी और गंभीर निकलने लगीं, कपोल और कर्ण रक्तिम बन गए, आँखों में एक विचित्र-सी मदिरा छा गयी। शरीर की ये विकृतियाँ अभी तक उन्हें कभी स्पर्श भी नहीं कर सकी थीं। किन्तु दोनों में कुछ अन्तर भी था। सुदर्शना जहाँ लज्जा से गड़ी जा रही थी, वहीं श्यावाश्व अपने चंचल मनोरथ को अपने शास्त्रीय ज्ञान की कठोर नियंत्रणाओं में बांधने का असफल प्रयत्न कर रहा था। उसे अन्यान्य होताओं के संग पवित्र वैदिक मंत्रों का उच्चारण करने के साथ ही हाथ से यज्ञ-कुण्ड में आहुति भी डालनी पड़ती थी। अतः बीच-बीच में वह कभी इधर तो कभी उधर ध्यान लगाने का सतत् प्रयास कर रहा था।

अन्ततः वह वार्षिक यज्ञ सविधि संपन्न हुआ। आचार्य अर्चनाना अनुष्ठान भर में यद्यपि बहुत स्वस्थ नहीं थे, तथापि उस प्रथम अंतराय के अतिरिक्त अन्य विक्षेप की असाधारण स्थिति उन्होंने नहीं आने दी। पूर्वाभ्यास वश उनकी वाणी मंत्रों के एवं अनुष्ठान के प्रसंगों का उच्चारण करती जाती थी किन्तु फिर भी बीच-बीच में एकाध क्षण की अनवधानता से साधारण

स्खलन तो एकाध बार हो ही गया था। उधर महाराज रथबीति को भी कम चिन्ता नहीं थी, किन्तु वे ईश्वर के अटूट विश्वासी थे। परिस्थितियों को वे विधाता की रचना मानकर सात्त्विक बुद्धि से सभी कामों में तन-मन से लगे रहना ही वह मनुष्य का परम कर्त्तव्य मानते थे। आचार्य अर्चनाना के उस चित्त-विक्षेप की मूक भाषा को वह समझ चुके थे। उन्हें इसकी चिन्ता तो कम थी कि सुदर्शना एक निर्धन ब्राह्मण परिवार की कुटिया पवित्र करेगी, किन्तु इस बात की चिन्ता अधिक थी कि यज्ञ मण्डप में समुपस्थित विशाल भीड़ में आचार्य ने अपनी मानसिक दुर्बलता का जो भोंड़ा प्रदर्शन किया है; उसका प्रभाव हमारे प्रजाजनों पर अच्छा नहीं पड़ेगा। किन्तु वे कर ही क्या सकते थे? दैवी घटनाओं को निष्क्रिय साक्षी के रूप में देखते रहना ही उनका अभ्यास बन चुका था।

निदान यज्ञ-समाप्ति के अनन्तर जब दक्षिणा संप्रदान की वेला आई तो आचार्य अर्चनाना की यह वाणी सबको आश्चर्य चकित करने वाली होकर भी उन्हें विस्मित नहीं कर सकी। आचार्य ने कहा—

'महाराज! मैं इस यज्ञ की सम्पन्नता के उपलक्ष्य में जिस अपूर्व दक्षिणा की याचना करने जा रहा हूँ, वह यद्यपि आप के लिए कष्टदायिनी हो सकती है तथापि उसको प्राप्त किए बिना मैं सन्तुष्ट भी नहीं हो सकता। यही नहीं उस दक्षिणा के बदले में मैं आप का सम्पूर्ण राज्य भी नहीं ग्रहण करूँगा। और यह आप को ज्ञात ही है कि जिस यज्ञ में आचार्य को मन चाही दक्षिणा नहीं दी जाती वह यज्ञ व्यर्थ हो जाता है।'

आचार्य अर्चनाना की मार्मिक वाणी का रहस्य महाराज रथबीति से छिपा नहीं था, तथापि उनकी इस विह्वलता का प्रभाव ऋषियों-मुनियों की मण्डली पर गंभीरता से पड़ा। सभी अवसन्न-से हो गए और अर्चनाना के गंभीर मुख की ओर लगे हुए महाराज के सहज-प्रसन्न मुख मण्डल से निकलने वाली अमृत-वाणी की प्रतीक्षा करने लगे।

महाराज रथबीति ने हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में कहा—'आचार्य! मेरे लिये इस संसार में कोई भी वस्तु अदेय नहीं है। आप जिसे कष्ट

दायिनी मान बैठे हैं, उसे आप जैसे योग्य पात्र के हाथों में समर्पित कर मुझे परम प्रसन्नता होगी। उसे आप स्पष्ट रूप में बताने की कृपा करें।'

अर्चनाना की गंभीर मुख-मुद्रा प्रसन्न हो उठी। उन्होंने गद्गद् वाणी में कहा—'महाराज! मैं आपकी कन्या सुदर्शना को अपनी पुत्रवधू के रूप में प्राप्त करने की दक्षिणा आप से चाहता हूँ।'

अर्चनाना की यह धीर गंभीर वाणी मुख से बाहर निकलते ही महान् विस्मय का विषय बन गई। ऋषियों, मुनियों, ब्राह्मणों एवं पुरोहितों की मंडली अवाक् हो गई। मंत्रिपरिषद् चिन्ता से विह्वल हो गई। पुरजन, परिजन एवं सम्बन्धी महाराज का मुख देखने लगे और दर्शकों में एक विचित्र कोलाहल मच गया। कोई कहने लगा—'यह बूढ़ा ऋषि बड़ा चतुर निकला। महाराज की सरलता और दानशीलता का इसने सबसे अधिक लाभ उठाया।' कोई कहने लगा—'उस विधाता की सृष्टि अति विचित्र है जिसने सुदर्शना जैसी कन्यारत्न के लिये श्यावाश्व जैसे वर की रचना की है। दोनों की यह युगल जोड़ी विश्व में सचमुच अद्वितीय है।' कोई कहने लगा—'महाराज इस स्वार्थी ब्राह्मण की याचना को यदि ठुकरा भी देंगे तो कोई पाप नहीं होगा। ऐसा अनुचित सम्बन्ध हो जाना ही पाप का मूल होगा! कहाँ त्रिभुवन विमोहिनी सुदर्शना और कहाँ वह ब्राह्मणकुमार श्यावाश्व। मानसरोवर की राजहंसिनी का संयोग गड़हियों के बक से भला किस प्रकार सम्भव है। माना कि यह ऋषिकुमार सुन्दर है, युवा है, परम विद्वान है, विनयी है, किन्तु क्या इन्हीं गुणों से वह राजकुमारी सुदर्शना को प्राप्त करने की योग्यता रखता है। नहीं, नहीं, यह संयोग राजकुमारी के लिए अत्यन्त दुःखदायी होगा। महाराज को अपना सहज शील-संकोच त्याग कर इस कूटबुद्धि ब्राह्मण का अनादर करने में हिचकना नहीं चाहिए।'

उधर महारानी की विचित्र मनोदशा थी। आचार्य की वज्रोपम वाणी से मर्माहत होकर वह कुछ कहने ही जा रही थीं कि महाराज रथवीति

बीच ही में बोल पड़े। उन्होंने आचार्य के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा का परिचय प्रकट करते हुए करबद्ध निवेदन किया—

'पूज्य आचार्य ! यह तो मेरे ऊपर आपका परम अनुग्रह है। मेरी कन्या के लिए इससे बढ़कर परम सौभाग्य का दूसरा अवसर कौन सा हो सकता है कि त्रिभुवन विख्यात महर्षि अत्रि के पवित्र आश्रम में उसे निवास मिलेगा। आप जैसे सर्वज्ञ श्वसुर तथा आयुष्मान् श्यावाश्व जैसे सर्वयोग्य पति का प्राप्त करना उसके लिए परम मङ्गल का कारण होगा। मैं आप को यह योग्य दक्षिणा प्रदान कर अपने को धन्य मानूँगा महामुने !'

महाराज की यह विनय भरी वाणी यज्ञ-मंडप में अमृत का अभिषेचन करती हुई विलीन हो गई। आचार्य अर्चनाना परम कृतार्थ होकर महाराज की ओर उत्फुल्ल नेत्रों से निहारने लगे और उधर राजकन्या सुदर्शना ने नीची दृष्टि से ऋषिकुमार श्यावाश्व के चरणों की ओर देखते हुए अपने जन्म की सफलता का अनुभव किया। उसे अब तक ऐसे परम अक्षय सुख एवं महान् उल्लास का अनुभव कभी नहीं मिला था। हृदय के आनन्दातिरेक में आत्म मर्यादा को विशृङ्खलित होते देखकर वह धीरे से यज्ञ मंडप से उठकर राजमहल की ओर चलने को उद्यत हो गई।

'किन्तु महाराज ! आपने इस सम्बन्ध की स्वीकृति देते हुए मेरी सम्मति की सर्वथा उपेक्षा की है। सुदर्शना पर मेरा भी उतना ही अधिकार है, जितना आप का। हमारा कुल राजर्षियों का है। परम्परानुसार हम अपनी कन्या का विवाह ब्राह्मण कुल में किसी मंत्रद्रष्टा ऋषि से ही कर सकते हैं।' यज्ञ मंडप को विस्मित करते हुए महारानी ने किसी प्रकार टूटे-फूटे स्वर किन्तु विनय भरी वाणी में अपनी मनोव्यथा कह सुनाई।

महारानी की यह उचित माँग आचार्य अर्चनाना के कानों में बाणों के समान लगी। क्योंकि सभी प्रकार की अनुपम योग्यता होते हुए भी उनका पुत्र श्यावाश्व अभी तक मन्त्रद्रष्टा की पवित्र उपाधि से विभूषित नहीं हो सका था। उन्हें कुछ आगे कहने की गुन्जाइश ही नहीं रही, क्योंकि महारानी का यह तर्क अकाट्य था और महाराज रथवीति के लिए

भी इसको भंग करना असम्भव था। सभी लोग विचार मग्न होकर आगे की घटना पर कुछ सोच ही रहे थे कि ऋषिकुमार श्यावाश्व ने अपनी विदग्धता तथा विनयशीलता का उत्तम परिचत देते हुए विनयभरी वाणी में कहा—

'मेरे पूज्यतात ! मैं विश्वविश्रुत महर्षि अत्रि का पौत्र तथा आपका पुत्र होकर ऋषि पद प्राप्त करने का जन्मजात अधिकारी हूँ और मैं उसे यथाशीघ्र प्राप्त भी करूँगा। मेरे लिए तो राजकुमारी सुदर्शना से बढ़कर मंत्रद्रष्टा ऋषि पद को प्राप्त करना ही परम कर्त्तव्य है। मैं ऋषि पद प्राप्त किए बिना आपका दर्शन भी नहीं करूँगा। मुझे आज्ञा और आशीर्वाद दीजिए कि मैं अपने पावन सङ्कल्प को पूरा कर फिर आपका दर्शन कर सकूँ।' यह कह कर ऋषिकुमार श्यावाश्व ने अपने किंकर्त्तव्यमिमूढ़ पिता के चरणों पर सिर रखकर, समुपस्थित समस्त ऋषिमंडली की ओर करबद्ध प्रणाम निवेदन कर तथा महाराज रथबीति से अनुज्ञा प्राप्त करने की प्रार्थना कर यज्ञ-मंडप से बाहर निकल पड़ा। उसके सुप्रसन्न मुख मंडल पर अपूर्व शोभा छाई हुई थी। इस महान् सत्संकल्प की अटूट निष्ठा से उसका ब्रह्मवर्चस् प्रदीप्त हो उठा था।

× × ×

ऋषिकुमार श्यावाश्व के चले जाने के अनन्तर आचार्य अर्चनाना भी महाराज रथबीति की आज्ञा लेकर अपने पिता के पवित्र आश्रम को वापस चले गए। उपयुक्त अवसर की उत्सुक प्रतीक्षा ही उनका सम्बल थी। महाराज रथबीति श्यावाश्व के ऋषिपद प्राप्त करने की अवधि तक सुदर्शना के विवाह की चिन्ता से मुक्त हो चुके थे, किन्तु महारानी का आग्रह अब भी यही चल रहा था कि सुदर्शना का विवाह किसी सुयोग्य राजपुत्र से ही सम्पन्न किया जाय। मंत्रिपरिषद् और पुरजन-परिजन तथा सम्बन्धी भी महारानी से सहमत थे। किन्तु महाराज रथबीति अपने प्रदत्त वचन को अन्यथा करने के लिए कभी तैयार नहीं हुए।

साधना के दुर्गम पथ पर अविश्रान्त भाव से चलते हुए ऋषिकुमार

श्यावाश्व ने पाँच वर्ष व्यतीत कर दिए किन्तु अभी मंत्र-दर्शन की वह मंगल बेला उसके सम्मुख नहीं आई, जिसकी प्राप्ति के लिए वह अपने शरीर को तृण के समान सुखा रहा था। महाराज रथवीति की राज्य सीमा पार कर वह महाराज विदेदश्व के पुत्र तरन्त के राज्य में पहुँच गया था। उसकी प्रकाण्ड विद्वत्ता, अनुपम साधना एवं दृढ़ सत्संकल्प की चर्चा जब महाराज तरन्त को ज्ञात हुई तो उन्होंने अपनी महारानी शशीयसी तथा अनुज पुरुमीढ़ के साथ श्यावाश्व का अपूर्व स्वागत-सत्कार किया। प्रचुर दक्षिणाएँ तथा भेंटें दीं, जिनमें सहस्रों सवत्सा गौएँ तथा अपार सुवर्ण एवं बहुमूल्य रत्नादि भी सम्मिलित थे।

किंतु ऋषिकुमार श्यावाश्व इसके बाद भी अपने आश्रम को वापस नहीं लौटे, क्योंकि मंत्र-दर्शन की प्रतिज्ञा का अभी तक उन्हें दर्शन भी नहीं हुआ था। महाराज तरन्त को दी हुई दक्षिणा को तो उन्होंने अपने पिता के आश्रम में भिजवा दिया किन्तु स्वयं विविक्त जंगल में एकान्त जीवन यापन करते हुए मंत्र-दर्शन की योग्यता सम्पादित करने में लगे रहे। उनकी साधना का पथ जब अत्यन्त कष्टमय हो गया और सुन्दर शरीर सूखकर अत्यन्त दुर्बल हो गया तब मरुद्गणों ने उन्हें दर्शन दिया। मरुद्गणों की अमोघ कृपा फलस्वरूप उनमें उस महनीय प्रतिभा का उदय हुआ जिससे उन्हें मंत्रद्रष्टा ऋषि की उपाधि प्राप्त हुई। मरुद्गणों ने उन्हें मंत्र दर्शन की क्षमता के साथ ही एक महर्घ रत्नों की माला भी प्रदान की और यह वरदान भी दिया कि—'ऋषिकुमार! अब तुम अपने पितामह के पवित्र आश्रम को वापस जाओ। तुम्हारी कामनाएँ पूरी होंगी और तुम मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में इस धरती पर सदा अमर रहोगे।'

श्यावाश्व की कामनाएँ सौभाग्य का छत्र तान कर आगे-आगे चल रही थीं, वह वन में ही थे कि राजकुमारी सुदर्शना को ऐसे शुभ शकुन मिलने लगे जैसे श्यावाश्व के साथ शीघ्र ही उसका शुभ मिलन होगा। इसी प्रकार महर्षि अत्रि के आश्रम में भी मांगलिक शकुन हो रहे थे। अर्चनाना और अत्रि श्यावाश्व के स्वागत-सत्कार की विविध तैयारियाँ

करने लगे। वह दिन भी आ गया जब श्यावाश्व मंत्रद्रष्टा ऋषि का सर्वोच्च पद प्राप्त कर वन से अपने पितामह के आश्रम को वापस लौटे। पूज्य एवं पवित्र मंत्रों के दर्शन से उनकी शरीर-ज्योति अपूर्व हो गई थी। सभी इन्द्रियों में उस अगम्य विद्या एवं प्रतिभा के साक्षात्कार से अलौकिक शक्ति समा गई थी। ऋषि के रूप में जब उन्होंने अपने पितामह महर्षि अत्रि और पिता अर्चनाना के चरणों पर शिर रखा तो समूचा आश्रम विभासित हो उठा। उनके अपूर्व तेज की मनोहारिणी आभा ने उनके पितामह और पिता के नेत्रों में अपार प्रसन्नता के समुद्र उमड़ा दिए।

श्यावाश्व के ऋषि होने का सुसंवाद जब महाराज रथवीति की राजधानी में प्राप्त हुआ तो महाराज के आदेश से महान् उत्सव मनाया गया। महारानी ने भी अपने हृदय के विषाद को धोकर स्वच्छ कर लिया और पवित्र मन तथा वाणी से सुदर्शना के मंगल-विवाह की रचना में लग गयीं। विवाह की तिथि तय की गई और बड़ी धूम-धाम से सब तैयारियाँ की गयीं। महाराज ने महर्षि अत्रि के आश्रम से अर्चनाना और श्यावाश्व समेत उनको लाने के लिए एक सुवर्ण मंडित अद्वितीय स्यन्दन भेजा।

राजधानी में पहुँचने पर महर्षि अत्रि, अर्चनाना और श्यावाश्व का जो अपूर्व स्वागत किया गया, वह अब तक के इतिहास में सुलभ नहीं था। महाराज रथवीति की सम्पूर्ण प्रजा ने राज्य भर में अपनी कन्या के रूप में सुदर्शना के विवाह की तैयारियाँ की थीं। लाखों व्यक्तियों के हार्दिक सहयोग ने उस समारोह में जो सजीवता डाल दी थी उसका अनुमान स्वयं महाराज को भी नहीं था क्योंकि अबतक सुदर्शना को वे अपनी ही कन्या मानते थे। किन्तु कन्यादान के अवसर पर जब सम्पूर्ण प्रजा ने अपनी-अपनी ओर से सुदर्शना को बहुमूल्य भेंटें देना आरम्भ किया तो समूचा राज भवन भर गया और प्राप्त धन-सम्पत्ति का विवरण रखना भी बड़ा कठिन हो गया। श्यावाश्व की निर्धनता अनेक पीढ़ियों के लिये भाग गयी क्योंकि स्वयं महाराज के पास भी उतनी निजी धन-सम्पति नहीं थी।

बिदाई के अवसर पर लाखों अश्वों, ऊटों तथा बैलों पर लाद कर प्राप्त

धन-सम्पत्ति जब महर्षि अत्रि के आश्रम की ओर चली तो यह ज्ञात होने लगा मानों अपनी नेत्रज्योति सुदर्शना के संग राजधानी स्वयंमेव अपनी समृद्धियों के साथ चली जा रही है। सुदर्शना ही राजधानी का जीवन-धन थी। महाराज रथवीति की एकलौती कन्या के रूप में ही नहीं अपने अनुपम स्वरूप-सौन्दर्य तथा महान् गुणों की महिमा से वह अनायास ही सब का मन मुग्ध कर लेने वाली थी, अतः जब वह श्यावश्व के साथ अत्रि के आश्रम की ओर उस सुवर्ण मण्डित स्यन्दन में आरूढ़ होकर चली तो राजधानी में हाहाकार मच गया। महाराज रथवीति अपने अन्तःपुर के कोलाहल से इतने द्रवित हो गए कि मंत्रिपरिषद् को उन्हें सँभालना पड़ा। आँसुओं की अविरल पंक्ति से उनका मुखमंडल भींग गया था, वाणी गद्‌गद् हो गई थी। हृदय में स्थिरता नहीं रह गई थी। जीवन के इस मूल्यवान रत्न को वे पहली बार अपने समीप से दूर भेज रहे थे। सुदर्शना की भी यही दशा थी। अपनी करुण अश्रुधारा से वह समूची राजधानी को विह्वल बना रही थी।

महर्षि अत्रि ने राजधानी की यह करुण दशा देखकर महाराज रथवीति से कहा—'राजन्! सुदर्शना को हमारे आश्रम में जाने की आवश्यकता नहीं है। वह आपकी राजधानी में ही श्यावाश्व के संग रह सकती हैं। आपके यहाँ से प्राप्त इस प्रभूत धन-सम्पत्ति के कारण हमारे आश्रम की महिमा क्षीण हो जायगी। अतः मेरी आज्ञा है कि आप सुदर्शना के साथ इन सब सामग्रियों को भी यहीं राजधानी में रखने की व्यवस्था करा दें। श्यावाश्व भी यहीं रहेंगे। जब कभी उनकी इच्छा होगी हमारे आश्रम में भी वह आते रहेंगे।'

अपने पिता महर्षि अत्रि की इस आज्ञा का उल्लंघन करने की क्षमता आचार्य अर्चनाना में भी नहीं थी। उन्होंने भी मौन भाव से पिता की आज्ञा पर अपनी स्वीकृत दे दी और नवयुवक ऋषि श्यावाश्व चुप रहे।

श्यावाश्व और उसकी नववधू सुदर्शना ने महर्षि अत्रि और अर्चनाना के चरण स्पर्श किए और वेदपिता तथा वेदमाता के शुभ-आशीर्वाद प्राप्त किए।

महाराज रथवीति ने महर्षि अत्रि और अर्चनाना को बिदाकर श्यावाश्व को अपनी राजधानी में ही सुव्यवस्थित किया। इस व्यवस्था से समस्त प्रजावर्ग समेत मंत्रि-परिषद् और अंन्तःपुर में प्रसन्नता का पारावार उमड़ पड़ा। सुदर्शना ने अपने महान सौभाग्य से सब कुछ प्राप्त किया। महर्षि अत्रि जैसा त्रैलोक्य विश्रुत प्रश्वसुर, आचार्य अर्चनाना जैसा श्वसुर और ऋषिपद प्राप्त श्यावाश्व जैसा सर्वयोग्य पति। उसे अपने पिता के गृह में ही पति-गृह की सभी सुविधाएँ प्राप्त हो गईं; यह भी कम सौभाग्य की बात नहीं थी।

सुदर्शना जब अपने पति के साथ सुखपूर्वक पिता के गृह में रहने लगी तब एक दिन शुभ मुहूर्त में महाराज रथवीति ने अपनी महारानी के साथ प्रजावर्ग एवं मंत्रि-परिषद् की अनुज्ञा ले कर आरण्यक जीवन बिताने का संकल्प ग्रहण किया और राजधानी से दूर हिमालय की तटवर्ती भूमि में पुण्यसलिला गोमती के तटपर वह अपना वानप्रस्थ जीवन बिताने के लिए चले गए।

प्रगाथ का भ्रातृत्व

ऋषि घोर के दो पुत्र थे। कण्व और प्रगाथ। दोनों के वय में बारह वर्षों का अन्तर था। कण्व बड़े थे और प्रगाथ छोटे। दोनों ही भाई बहुत ही सुन्दर, स्वस्थ, बुद्धिमान्, गंभीर, विनयशील, परोपकारी, परिश्रमी तथा एक दूसरे के लिए प्राण निछावर करने वाले थे। दुर्भाग्यवशात् महर्षि घोर और उनकी पत्नी को अपने इन योग्य पुत्रों का सुख कुछ दिनों तक भी देखने को नहीं मिला। जब ये दोनों भाई महर्षि अत्रि के आश्रम में ब्रह्मचारी का जीवन व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन कर रहे थे, तभी अकस्मात् उनका शरीर छूट गया। कण्व उस समय इक्कीस वर्ष के थे और प्रगाथ का नवाँ वर्ष चल रहा था। आचार्य के आश्रम में ही उन्हें अपने पिता और माता के निधन का दुःसंवाद मिला। कण्व ज्येष्ठ थे, विद्या और अनुभव में भी बड़े थे, अतः इस अकाल दुर्घटना ने उनके हृदय को मथ डाला। छोटे भाई प्रगाथ की निरीहता, अल्पवय, भविष्णुता और विनयशीलता को देखकर वे और भी चिन्तित हो उठे और कई दिन-रात अनवरत पितृ-शोक में ही वे निमग्न रहे। अन्ततः आचार्य के आश्वासन और सहानुभूति पूर्ण वचनों ने उन्हें स्वस्थ किया और तदनन्तर छोटे भाई प्रगाथ के साथ वे पूर्ववत् विद्याध्ययन में तन-मन से जुटे रहे।

चार वर्ष बाद कण्व का अध्ययन समाप्त हुआ। पचीस वर्ष के वय में उन्होंने समस्त अंगों, उपांगों समेत वेदों को सम्पूर्ण ज्ञान अधिगत कर लिया। गृहस्थ जीवन में प्रवेश करने की तैयारी कर ली और एक दिन मङ्गलमुहूर्त में आचार्य से दीक्षा ग्रहण कर जब वे अपने पिता के ग्राम को वापस जाने की तैयारी में लगे तो छोटे भाई प्रगाथ की ममता से विह्वल हो उठे। अभी प्रगाथ का अध्ययन अधूरा था। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का समय भी नहीं आया था और संग ले जाने के लिए आचार्य की आज्ञा भी नहीं मिल सकती थी।

कण्व का चित्त अत्यन्त चंचल था। इधर प्रगाथ को गुरु-आश्रम में एकाकी छोड़ कर जाना जितना दुःखपूर्ण था उतना ही वर्षों बाद पिता और माता से विहीन घर में रहकर बिल्कुल नया जीवन आरम्भ करने का कार्य भी कठिन मालूम हो रहा था। वर्षों बाद पिता और माता की पुण्य-स्मृति से कण्व का सुकोमल हृदय करुण हो उठा, आँखें भर आईं और चेतना विकल हो उठी। उन्हें उस दिन की दुःखद स्मृति हो आयी, जब घर छोड़ते समय अध्ययन को निर्विघ्न समाप्त करके आने के बाद माता ने उनके अपूर्व स्वागत की तैयारी करने की अभिलाषा प्रकट की थी और पिता ने कहा था कि—'बेटा! जिस दिन तुम आचार्य के आश्रम से अपना अध्ययन विधिवत् सम्पन्न करके आओगे, वह दिन हमारे ग्राम के लिए धन्य होगा। पुर में महोत्सव रचे जायेंगे और तुम्हारे गहन अध्ययन एवं प्रगाढ़ पाडित्य का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जायगा।'

दुर्भाग्य से इतने दिनों बाद आज जब वह मङ्गल-दिवस आया तो स्वागत और महोत्सव की रचना करने वाले उसके पिता और माता इस पृथ्वी पर नहीं रहे। पता नहीं ग्राम में जाने पर उनसे सीधे मुंह बात करने वाला भी कोई होगा या नहीं। और घर की जीर्ण-शीर्ण दीवारों पर छप्पर और छाजन भी होंगे अथवा वे भी पिता और माता की स्मृति में ध्वस्त हो गए होंगे।

पिता और माता की पावन स्मृति के साथ ही कण्व को अपनी प्यारी जन्मभूमि के वे वृक्ष और लताएं, मार्ग और पगडंडियां, सरोवर के जनसंकुल घाट और नदियों के सूने तट याद हो आए, जहाँ-जहाँ पिता के साथ उसने अपने बाल्यजीवन के सुखदायी दिन बिताए थे। उन गौओं और बछड़ों की भी उसे दुःखद स्मृति हुई, जिनके बिना आरम्भ में आचार्य के आश्रम में उसका एक-एक दिन बड़ी कठिनाई से बीता था। बचपन में माता के प्यार भरे सम्बोधनों एवं आश्रम में आने वाले ग्राम के अन्य ब्रह्मचारियों के द्वारा भेजे गए उसके सन्देशों की भी उसे याद आई, जो समय-समय पर उसके नीरस आश्रम-जीवन को आकर्षक बना देते थे। किन्तु हन्त! आज वे सुख के स्वप्न कहाँ विलीन हो गए। अपार ममता की

साक्षात् मूर्ति माता और अगाध प्यार से पुकारने वाले पिता की मधुर वाणी उसे अब घर जाने पर भी नहीं मिलेगी। पिछली बार पाँच वर्ष हुए प्रगाथ को पहुँचाने के लिए उसके पिता आचार्य के आश्रम में आए थे। उस दिन समस्त गुरुकुल ने हम दोनों भाइयों की समान आकृति, सुन्दरता, तीक्ष्ण बुद्धि, विनयशीलता और भविष्णुता की हृदय से सराहना की थी। स्वयं आचार्य ने हम दोनों के सम्मुख पिता जी को समादृत करते हुए कहा था—'विप्रवर घोर! तुम वास्तव में भाग्यशाली पुरुष हो। तुम्हारे दोनों बालक भी भविष्णु हैं। इनकी विद्या फलवती होगी और ये तुम्हारे यश को समस्त भूमण्डल पर फैलाएंगे।' पिता जी को कितना सुख हुआ था, यह सुनकर। उस दिन वह फूले नहीं समाते थे। दूसरे दिन जब वे मुझ से यह कहकर विदा लेने लगे कि—'बेटा! देखना, प्रगाथ अभी बहुत छोटा है, इसे अपने ही संग रखना', तो उनकी करुण आँखें भर आई थीं और हम दोनों भाइयों को बड़ी देर तक वे छाती से लिपटाए ही रह गए थे। कितनी ममता थी उनमें। अब इस जीवन में हम पर उतना प्यार, उतनी ममता और उतनी चिन्ता करने वाला कौन है।

अन्तिम दिन गुरु के आश्रम में प्रगाथ के साथ रात भर कण्व जागते ही रहे। चिन्ता और वेदना से बोझिल आखें क्षण भर के लिए भी नहीं मुदीं। प्रगाथ को छाती से चिपकाकर कभी वे साथ ही गृहस्थाश्रम में वापस ले जाने की बात सोचते तो कभी आचार्य के आशीर्वचन की याद करके उसे अध्ययन सम्पन्न करने के लिए आश्रम में एकाकी छोड़ने का ही निश्चय बनाते। प्रगाथ भी भाई के भावी वियोग से विह्वल था। पिता और माता की जिस दारुण मृत्यु के दुःख को वह भाई की स्नेहिल छाया में रहकर भूला हुआ था, वह आज द्विगुणित वेग से उसे बेचैन कर रहा था। भाई की स्नेहभरी ममता और निश्छल भावुकता से उसका भी हृदय भर आया था, और रात भर उसने भी भाई के संकल्प और विकल्प में छाया की भाँति साथ दिया था। यद्यपि अध्ययन उसे प्रिय था, शास्त्रों और वैदिक क्रियाओं के प्रति उसकी अगाध निष्ठा थी तथापि भाई के

निश्छल प्रेम और मोहक स्नेह की सरिता में वह ऐसा डूबा हुआ था कि बाहर निकलकर कोई एक पथ निर्दिष्ट करने की उसमें क्षमता नहीं थी। आखिरकार वह अभी पन्द्रह वर्ष का ही तो था। अनुभव और व्यवहार की दिशाएं उससे अछूती थीं, कोई निश्चय करता भी तो वह कैसे करता?

रात्रि बीत गयी, अरुणोदय हुआ। आचार्य का आश्रम बटुकों के सस्वर सामगान से मुखरित हो उठा। सन्ध्यावन्दन की कल्याणी बेला भी बीत गयी। पक्षीगण अपने-अपने नीड़ों को त्यागकर चहकने लगे। मृग-शावक चतुर्दिक उछलने-कूदने लगे। संसार का दैनिक जीवन अबाध गति से आरम्भ हो गया किन्तु कण्व और प्रगाथ अपने शयनासन पर ही किंकर्त्तव्यविमूढ़-से पड़े रहे। उस दिन के आश्रम के जीवन की मानों कोई छाया भी उन पर नहीं पड़ी थी। उनकी दीर्घ चंचल आँखें निरन्तर जागते रहने और बीच-बीच में अश्रु विमुंचित करने के कारण रक्तवर्ण की हो गई थीं। मुख विवर्ण था, मस्तिष्क शून्यवत् प्रतीत हो रहा था। अखण्ड ब्रह्मवर्चस् के प्रदीप्त तेज से चमकता हुआ सुन्दर मुखमण्डल सकरुण होने के कारण और भी अधिक आकर्षक बन गया था। शनैः-शनैः कण्व और प्रगाथ की इस वेदना का संवाद शिष्यों के मुख से आचार्य के कान तक पहुँच गया। आचार्य-पत्नी इन मातृ-पितृ-विहीन दोनों भाइयों पर पुत्रवत् स्नेह रखती थीं, अतः जब उन्हें यह समाचार मिला तो उन्होंने तुरन्त ही दोनों को अपने समीप बुला भेजा। आचार्य भी उस समय वहीं समुपस्थित थे।

कण्व और प्रगाथ को इस प्रकार की उदास मुखमुद्रा और दीनता में आविष्ट देखकर आचार्यपत्नी की आँखें भी डबडबा आयीं, कण्ठ अवरुद्ध हो आया। मातृ-पितृ-विहीन इन दोनों होनहार बालकों को देखकर वे अपने को रोक नहीं सकीं और आश्वासन तथा ममता से भरे स्वर में बोलीं—

'बेटा! कण्व! तुम इतने दुःखी क्यों हो? प्रगाथ के लिए तुम्हें चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं है, आज से वह मेरी देख-रेख में रहेगा। तुम निश्चिन्त होकर जाओ और अपना गृहस्थ जीवन आरम्भ करो। मेरे रहते प्रगाथ को कोई कष्ट नहीं पड़ने पाएगा।'

माता के समान सुख देनेवाली आचार्यपत्नी की यह वाणी अमृत-वर्षा के समान समूचे आश्रम में आनन्द बिखेरते हुए व्याप्त हो गयी। आचार्य ने भी उसका अनुमोदन किया। तनन्तर कण्व ने आचार्य एवं आचार्या के चरणरज को शिर पर लगाकर और प्रगाथ को छाती से लगा मस्तक सूंघकर आश्रम से विदा ली और उत्कण्ठा तथा वेदना से बोझिल हृदय के भार को ढोते हुए अपने ग्राम को जानेवाला मार्ग पकड़ा।

× × ×

दिन बीते। कण्व का गृहस्थाश्रम अब प्रशस्त हो चुका था। उनके अगाध पाण्डित्य एवं शास्त्रज्ञान की अखण्डनीय महिमा देश भर में फैल चुकी थी। आचार्य का आशीर्वचन प्रतिफलित हो चुका था। वह अब एक आश्रम के संचालक थे। उनके गुरुकुल की महत्ता देश भर में बेजोड़ थी। पत्नी के रूप में भी उन्हें एक ऐसी लक्ष्मी मिल गई थीं जो विद्या, सौन्दर्य, ममता, परोपकार, सेवा और सहानुभूति की प्रतिमूर्ति थीं। आश्रम के सफल संचालन में उनका विशेष योग था। विद्यार्थियों की उन पर अपार श्रद्धा थी। इस प्रकार आदर्श दाम्पत्य-जीवन का आनन्द उपभोग करते हुए जब अनेक वर्ष बीत गए तब वह स्वर्णिम दिवस भी आया, जब प्रगाथ गुरु आश्रम से अपनी विद्या समाप्त करके कण्व के समीप आने वाला था। कण्व-पत्नी बहुत दिनों से अपने देवर प्रगाथ की विद्या, प्रतिभा, विनयशीलता एवं भविष्णुता के सम्बन्ध में अपने पति से सुनती आ रही थीं और उस मंगल-बेला की अगवानी में अपनी उत्सुक आँखों की पलकें बिछाए हुए थीं। प्रगाथ जब कण्व के आश्रम में आए तो उनका अपूर्व स्वागत किया गया। कण्व की पत्नी ने दूर से ही देखा कि वह प्रगाथ के सम्बन्ध में बहुत दिनों से जो कुछ सुनती आ रही थीं, वह उन सबसे भी बढ़कर है। प्रगाथ के सुदृढ़ अंगों से आकर्षक सुन्दर व्यक्तित्व और अगाध ज्ञान-गरिमा को अनायास ही प्रकट करने वाली आकृति को देखकर उनका हृदय मातृ-स्नेह से भर गया। और जब प्रगाथ ने अपने विशाल नेत्रों में आँसू भरकर उनके चरणों पर भक्तिसमेत शिर रखा तो वह अपने को भूल गयीं और प्रगाथ को अंकों

में लेकर बहुत देर तक प्रेमाश्रु से उसके शिर का अभिषेक करती रहीं। कण्व को भी प्रगाथ के गुरु-आश्रम से वापस आने की परम प्रसन्नता थी। वर्षों से जिस मंगल-दिवस के स्वागत की तैयारी में थे, उसकी उन्होंने यथाविधि सम्बर्धना की। स्वर्गीय माता-पिता के संचित स्नेह की स्मृति कर उन्होंने प्रगाथ के स्वागत के समस्त आयोजन रच डाले थे। उन्हें इस बात का सदैव ध्यान था कि प्रगाथ को गृहस्थाश्रम में आने पर माता-पिता के अभाव का स्मरण भी न हो। विशुद्ध प्रेम की अविरल धारा कण्व के आश्रम में सर्वत्र प्रवहमान थी। प्रगाथ ने प्रथम बार अनुभव किया कि सचमुच वह गृहस्थाश्रम धन्य है, जिसमें स्नेह की शीतल सुख-दायिनी छाया कभी विरल नहीं होती और जिसमें इहलोक और परलोक को बनाने वाली सिद्धियाँ सर्वत्र विराजमान हैं।

प्रगाथ के आगमन के साथ ही कण्व के आश्रम की महिमा और भी बढ़ गई। प्रगाथ के प्रखर पाण्डित्य और नवयौवन सुलभ मनोहर पाठन शैली ने आश्रम के विद्यार्थियों को अधिक आकृष्ट किया। उसमें प्रबन्ध की अपूर्व पटुता भी थी। थोड़े ही दिनों में देश के प्रत्येक अंचल से आने वाले विद्यार्थियों से कण्व का आश्रम भर गया। प्रदेश के राजाओं एवं धनिक वर्गों ने उसकी व्यवस्था को और अधिक सुन्दर बना दिया। देश के सुप्रसिद्ध आश्रमों में उसकी ऊँची प्रतिष्ठा हो गयी। कण्व और उनकी पत्नी ने प्रगाथ के इस कौशल और पाण्डित्य का हृदय से अभिनन्दन किया और वह उन दोनों ही के प्राणवत् प्यारे बन गये।

इस प्रकार कण्व का गृहस्थ जीवन प्रगाथ की उपस्थिति से प्रफुल्ल हो उठा। सुख, शान्ति एवं समृद्धि के विविध प्रसंग प्रतिदिन उपस्थित होने लगे। उनकी प्रशंसा और ख्याति विस्तृत होने लगी, और उनके चतुर्दिक प्रेम और स्नेह का वातावरण प्रगाढ़ और विशुद्ध होता गया। सभी अभाव बीत गए और प्रतिदिन सायं-प्रातः होने वाले अग्निहोत्रों की पावन धूमशिखा ने कण्व के आश्रम के स्वर्गीय सुखों की गाथा को नक्षत्र मण्डलों तक पहुँचा दिया। कण्व और उनकी पत्नी ने अनुभव किया कि

सचमुच संसार में भ्रातृस्नेह के समान पावन कोई दूसरा सन्दर्भ नहीं है। वे संसार में सबसे बड़े भाग्यशाली हैं, क्योंकि प्रगाथ के समान सर्वगुणोपेत भाई मिलना संसार में कहाँ सुकर है।

इधर प्रगाथ की भी यही मनोदशा थी। अपार सुख-शान्ति एवं प्रेम के इस पुनीत पारावार में वह दिन-रात आकण्ठ मग्न रहते थे। पिता से भी बढ़कर आदर देने वाले भाई और माता से भी बढ़कर प्रेम और स्नेह-दान करने वाली भाभी को पाकर वह फूले नहीं समाते थे। अपनी समस्त विद्या, प्रतिभा, साधना और अनेक जन्मार्जित सदाचरणों के पुण्यफल के समान वह इन दोनों के प्रति अनन्य आदर भाव रखते थे। दैनिक चर्या तथा समस्त गृहस्थाश्रम और विद्यार्थियों की सुव्वस्था एवं अध्ययन-अध्यापन से जो भी समय बचता वह भाई और भाभी के सत्कार एवं सेवा में लगाते। शारीरिक क्लान्ति तो उन्हें छू भी नहीं गई थी। सदैव नूतन उत्साह और उमंग से वह प्रत्येक कार्य में दिन-रात लगे रहते।

× × ×

नित्य के परिश्रम एवं अति जागरण से एक दिन प्रगाथ का शरीर कुछ शिथिलित था। उस दिन अस्वास्थ्य के कारण उन्होंने नित्यकर्म तो सम्पन्न कर लिया किन्तु अध्यापन का कार्य नहीं कर सके। उस दिन कण्व ने ही अध्यापन का कार्य किया। सन्ध्या का अग्निहोत्र भी उन्हें ही करना था और समिधा के आहरण के लिए भी उन्हें ही जाना था। आश्रम में प्रगाथ की अनुपस्थिति से एक अद्भुत सन्नाटा फैला था। न विद्यार्थियों का स्वरगान कहीं सुनाई पड़ रहा था और न यज्ञशाला में वेद-मंत्रों की ध्वनि के संग पावन समिधाओं के चट-चट करने की आवाज ही आ रही थी।

प्रगाथ यज्ञशाला के वहिर्द्वार के पास अपनी भाभी के निकट बैठकर उनको सुप्रसन्न करने के लिए सामगान कर रहे थे किन्तु नित्य का वह स्वर-लालित्य, वह क्षिप्रता और वह वेग आज नहीं था। शरीर बहुत शिथिल था, क्योंकि शिर में पीड़ा थी और नेत्र भरे हुए थे। थोड़ी ही देर तक वह सामगान कर सके। शीतल मंद पवन ने अपने सुगंधित लघु झकोरों से

उनके नेत्रों को मुद्रित कर दिया और वे अपनी स्नेहमयी भाभी के अंकों में शिर रखकर सो गए। कण्व-पत्नी ने प्रथम बार प्रगाथ के शारीरिक सौन्दर्य को नेत्र भर कर देखा। देवकुमारों को भी लज्जित करने वाले प्रगाथ के तेजस्वी मुखमण्डल को देखकर वह आत्म-विस्मृत होकर सोचने लगीं—'ऐसा सर्वगुण सम्पन्न पुत्र पाना संसार में बड़े भाग्य की बात है। खेद की बात है कि हमारे श्वसुर और सास यह सुख नहीं भोग सके। जैसी विद्या और प्रतिभा, वैसा ही शील और सदाचार। जैसा सुन्दर सुघटित शरीर वैसा ही विनय और गांभीर्य। प्रगाथ देवता है। निश्चय ही यह हमारे पूर्व जन्म के पुण्य-कर्मों का मूर्तरूप है।' इस प्रकार की चिन्तना में उलझी हुई कण्वपत्नी को आश्रम की सुधि-बुधि भी भूल गयी। वह अपलक नेत्रों से प्रगाथ के मुख की ओर ही ताकती रह गयीं।

इसी बीच कण्व समिधा लेकर यज्ञशाला के द्वार पर पहुँच गए। उस समय अत्यन्त परिश्रम और धूप के कारण उनका शरीर श्रान्त होकर पसीने से लथपथ हो रहा था। इधर वर्षों के अनभ्यास से वह कुछ आलसी बन गए थे, अतः समिधा को नीचे रखकर जब वह यज्ञशाला के बहिर्द्वार की ओर आगे बढ़े तो एक पग भी अधिक चलने की हिम्मत उनमें नहीं रही। वह श्रम मिटाने के लिए नीचे बैठना ही चाहते थे कि अकस्मात् प्रगाथ और अपनी पत्नी की ओर उनकी चंचल आँखें पड़ गईं। उनकी पत्नी अब भी प्रगाथ के मुख पर ही निर्निमेष दृष्टि लगाकर देख रही थीं, अपने शरीर और वस्त्र का भी उन्हें होश नहीं था। इतना ही नहीं, समिधा के साथ कण्व के आने की खबर भी उन्हें नहीं थी। ऐसी तल्लीन थीं, मानों संसार में किसी बहुमूल्य दुर्लभ पदार्थ को पाकर कोई रंक भाव-विभोर हो उठा हो।

यज्ञशाला के एकान्तस्थल में शरीर, वस्त्र और समीप की चिन्ता से भी बेसुध अपनी पत्नी की यह विचित्र मनो-दशा देखकर परिश्रान्त कण्व की उत्तेजित चेतना को कठोर धक्का लगा। तत्क्षण ही वह अति चंचल हो उठे। पत्नी और भाई के निर्मल चरित्र की यह दुर्दशा देखकर उनका

मस्तिष्क असन्तुलित हो गया। हृदय घबराने लगा। वाणी विस्खलित हो उठी। पसीने की धारा अविरल हो गयी और क्रोधावेश से समूचा शरीर विकम्पित हो गया। विद्युत गति के समान पत्नी के समीप पहुँचकर उन्होंने कठोर गर्जना करते हुए कहा—

'पापिनि! यह कौन है जो इस प्रकार अत्यन्त विक्षुब्ध होकर तुम्हारे अंकों में विश्राम कर रहा है। मैं इस पापी का मुख भी नहीं देखना चाहता और तुम जैसी कलंकिनी...।'

कण्व के इस कठोर गर्जन को सुनते ही उनकी पत्नी की विचार-श्रृंखला टूट गयी। उनके इस रौद्र रूप को देखकर वह सहम गयीं। वह घबराहट में कुछ कहने ही जा रही थीं कि कण्व का रहा-सहा धैर्य भी अब तक टूट चुका था। उन्होंने समीप पहुँचकर प्रगाथ की पीठ पर तीन चार पाद-प्रहार करते हुए कहा—

'पापी प्रगाथ! जाओ, इस अभागिनी के साथ ही आज मैं तुम्हें अपने इस आश्रम से बाहर निकल जाने की आज्ञा दे रहा हूँ। मेरी समझ में अब यह आ गया है कि तुम दोनों का यह पाप-सम्बन्ध आज ही का नहीं है। तुब दोनों ही पुराने पापी हो।'

कण्व की इस विकराल वाणी ने आश्रम को विकम्पित कर दिया! क्रोध की भयंकर ज्वाला से वह दग्ध होते जा रहे थे और उनकी आकृति क्षण-प्रतिक्षण उग्रतर होती जा रही थी किन्तु प्रगाथ और कण्व पत्नी अचंचल थीं। प्रगाथ ने सहज विनम्र भाव से कण्व का चरणस्पर्श किया और सदा की भाँति सस्मित किन्तु गंभीर दृष्टि से उनकी ओर देखा।

कण्व ने पुनः प्रगाथ के वक्षस्थल पर पाद-प्रहार किया और बोले—'पापी! निकल जाओ, तुम दोनों के लिए आश्रम का द्वार आज से बन्द है। अपने कलंकी मुख और आंखों को मेरी ओर से फेर लो और इसी क्षण यहाँ से चले जाओ।'

प्रगाथ ने पुनः अपने सहज अविचल भाव से विनम्रता पूर्वक देखा और बोले—'मेरे तात! आप तो मेरे पूज्य पिता के समान हैं और मैं इन्हें

अपनी साक्षात् पूज्य माता के समान आदर करता हूँ।' यह कहकर प्रगाथ ने पुनः अपने बड़े भाई कण्व और भाभी का चरण स्पर्श किया।

प्रगाथ के इस सहज निश्छल व्यवहार ने कण्व को स्तम्भित कर दिया। वह धीरे-धीरे स्वस्थ होते जा रहे थे किन्तु सन्देह का भूत अब भी उन्हें सता रहता था। प्रगाथ की निर्मल वाणी में गुप्त कलुष होने की दुर्भावना से अब भी वे विचलित थे।

'आपके अनुज ऋषिकुमार प्रगाथ ने जो कुछ कहा है, वह अक्षरशः सत्य है नाथ! मैंने तो उन्हें सदा अपने प्यारे पुत्र की दृष्टि से ही देखा है। जब से मेरे आश्रम में वह आए हैं, मैं उन पर अपने पुत्र के समान ही स्नेह करती हूँ। आज उनका शरीर अस्वस्थ है, आप ही देखें, शिर कितना जल रहा है, अंगों में वेदना है। सामगान करते-करते वह थककर मेरे अंकों में सो गए थे। इसके सिवा तो मैं कुछ नहीं जानती हूँ देव! अकारण किसी अनिष्ट की आशंका आप न करें। प्रगाथ जैसा अनुज पाना बड़े सौभाग्य की वस्तु है।'

पत्नी के इन वाक्यों ने कण्व को प्रकृतिस्थ कर दिया। उन्होंने स्पर्श करके देखा प्रगाथ का शरीर जल रहा है, आँखें लाल हो गई हैं और ओंठ सूखे हुए हैं। अपनी अविवेकिता पर उन्हें गहरी ग्लानि हुई। वंशपरम्परागत शील एवं समुदाचार प्रबुद्ध हो उठा। उनकी क्रोध से जलती हुई आँखें अनुताप के अश्रु से भर आईं, विकम्पित हृदय श्रद्धा और स्नेह से उमड़ पड़ा। उन्होंने प्रगाथ को अपनी दोनों बलिष्ठ भुजाओं में समेट कर अंगों से चिपका लिया और अनवरत प्रवाहित होने वाले अश्रु-प्रवाह से मूर्धाभिषेक करते हुए गद्गद् कण्ठ से बोले—

'प्रगाथ! मुझसे भीषण अपराध हुआ, मैं बहुत लज्जित हूँ, वास्तव में तुम्हारे समान भाई मिलना सौभाग्य की वस्तु है। प्रिय वत्स! मैं अपनी अविवेकिता पर बहुत दुःखी हूँ, मुझे क्षमा कर दो मेरे तात!'

प्रगाथ ने कण्व के चरणों की पवित्र धूलि लेकर अपने मस्तक पर चढ़ाई और विनय से भरी वाणी में हृदय की सम्पूर्ण श्रद्धा उड़ेलते हुए कहा—

'मेरे तात ! आप मेरे लिए पूज्य पिता के समान हैं, और पूज्य भाभी को मैं सदैव माता के समान देखता हूँ। आप दोनों ने मेरे जीवन को ऊंचा उठाने के लिए जो कुछ किया है, वह दूसरा कौन भाई कर सकता है ! क्या मैं यह नहीं अनुभव करता कि आप दोनों भी मुझे अपने प्राणों के समान स्नेह-दान करते हैं। आप ने जो कुछ कहा है, उसका मैं कभी स्मरण नहीं करूंगा। आप तनिक भी कुण्ठित न हों। मैं जिस परिस्थिति में था, उसमें आपका शंकालु होना स्वाभाविक था। अतः आप कुछ भी अन्यथा न सोचें मेरे तात।'

प्रगाथ की इस पावन वाणी ने कण्व के पुनीत आश्रम में अमृत की तरंगिणी प्रवाहित कर दी। कण्व पुलकित हो उठे और उनकी पत्नी के विशाल नेत्रों से चूने वाले अश्रुकण विभासित हो उठे। फिर तो तीनों ही प्राणी एक दूसरे पर विशेष श्रद्धालु और अनुरक्त बनकर एक दूसरे के गले से लग गए। उनके निर्मल आनन्दपूरित मानस की चंचल तरंगों की प्रतिक्रिया ने आश्रम के वातावरण को अत्यधिक प्रशान्त, निर्मल और सरस बना दिया।

अपाला की साधना

महर्षि अत्रि प्रजापति के रूप में विख्यात थे। पुराणों ने इन्हें सृष्टि पितामह अथवा भगवान् ब्रह्मा का तृतीय पुत्र बतलाया है। कहा गया है कि सृष्टि के विपुल विस्तार के लिए पितामह ब्रह्मा ने सर्वप्रथम सनक, सनन्दन आदि पुत्रों को जन्म दिया था, किन्तु वे संसार की माया-ममता से बिल्कुल उदासीन और निरपेक्ष थे। सन्तानादि की उत्पत्ति की ओर उनकी रुचि नहीं थी। ज्ञान, वैराग्य एवं योगाराधन को ही उन्होंने जीवन का मुख्य उद्देश्य माना और संसार से विमुख होकर पर्वतों की गुफाओं की शरण ली। निरुपाय ब्रह्मा जी ने फिर ऐसे पुत्रों को जन्म दिया जिनके द्वारा सृष्टि का विस्तार हुआ। ब्रह्मा के इन्हीं आदिम पुत्रों को प्रजापति की संज्ञा दी गई। और इन्हीं के द्वारा चराचर सृष्टि के विस्तार की कथा पुराणों में वर्णित है।

भगवान ब्रह्मा के जिन प्रजापति नामक पुत्रों से सृष्टि का विस्तार हुआ है, उनके नाम ये हैं—भृगु, पुलस्त्य, अत्रि, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष और वसिष्ठ। इन नवों प्रजापतियों में अत्रि का तीसरा स्थान था। किसी-किसी पुराण के मतानुसार इसी कारण से इनका नामकरण भी 'अत्रि' रखा गया था। प्रजापति अत्रि को ही पुराणों में महर्षि अत्रि के नाम से विख्यात किया गया है। इनके दस स्त्रियाँ थीं, जिनमें से अनसूया ज्येष्ठ थीं। इन्हीं के संयोग से चंद्रमा का जन्म हुआ था।

महर्षि अत्रि का जीवन अत्यन्त तपोमय, शान्त तथा निर्विकार था। यद्यपि ये प्रजापति थे और सृष्टि के आरम्भिक तेजस्वी महानुभावों में इनकी गणना थी, तथापि अन्य प्रजापतियों की अपेक्षा इनमें उदारता, शील, परदुःखकातरता एवं व्यावहारिकता अधिक थी। मानव जाति के प्रति ही नहीं, सृष्टि के समस्त जीवों के प्रति इनमें अपार दया और ममता

थी। सबको यह अपनी प्रिय सन्तान मानते थे और सबके कल्याण का सदैव ध्यान रखते थे।

महर्षि अत्रि का आश्रम चित्रकूट के समीप पुराणप्रसिद्ध दण्डकारण्य के एकान्त पुण्य-प्रदेश में तपस्या एवं साधना का विख्यात केन्द्र था। वहाँ वे जन-सम्पर्क से रहित जीवन व्यतीत करते थे। उनके सभी पुत्रों, पौत्रों एवं परिवार के अन्य सदस्यों को वहाँ रहने की आज्ञा नहीं थी। केवल अपनी ज्येष्ठ पत्नी अनसूया को ही वे सदा अपने साथ रखते थे। देवी अनसूया का वैदिक महिलाओं में उच्च स्थान रहा है। वे महर्षि अत्रि के साधना एवं तपोमय जीवन में परम सहायक थीं। उनकी शास्त्रीय चर्चाओं में भाग लेने वाली थीं और स्वयमेव सदा तपस्या में लीन रहती थीं। सांसारिक विषयों का उन्हें जितना अगाध ज्ञान था उतनी ही शास्त्रीय विषयों में भी विशेष जानकारी थी। भारतीय गृहस्थ जीवन के विविध प्रसंगों पर विशद प्रकाश डालने वाली उनकी उपदेशमयी वाणी अनेक पुराणों एवं उपाख्यानों में निबद्ध की गयी है और आज के अतिव्यस्त संसार को भी सच्ची सुख-शान्ति प्रदान करने की उनमें अपूर्व क्षमता है। प्राचीन साहित्यों में महर्षि अत्रि के प्रति जो महती प्रतिष्ठा एवं श्रद्धा के प्रसंग प्राप्त होते हैं, उनमें उनकी स्त्री भगवती अनसूया का अनुपम योगदान था। वे प्रजापति कर्दम की कन्या थीं और उनमें मानव जाति के सर्वतोमुखी उत्थान एवं कल्याण की अविचल कामना थी।

वैदिक साहित्य में महर्षि अत्रि का स्वरूप हमें एक क्रान्तिकारी नेता की भाँति मिलता है। कथा है कि अन्यायी राजा वेन के विनाश एवं पृथु के प्रतिष्ठापन में इन्होंने ही जनता का नेतृत्व ग्रहण किया था। वेदमंत्रों में इनका चालीस बार से अधिक प्रयोग हुआ है और अनेक विकट प्रसंगों में इनकी प्रशस्ति गाई गई है। अग्नि के निष्ठावान् आराधक के रूप में इनकी अद्वितीय स्थिति मानी गई है और देवराज इन्द्र की भी इन पर अविचल कृपा वर्णित है। अन्धकार एवं अविद्या के उन्मूलन करने में इनके साहस एवं पराक्रम की प्रशंसा की गई है। तैत्तिरीय आरण्यक के एक आख्यान के

अनुसार जब एक बार स्वरभानु दैत्य से सूर्य का भयंकर युद्ध हुआ तो अत्रि ने सूर्य की सहायता की, जिससे इनकी आंखें नष्ट हो गईं। बाद में अश्विनीकुमारों की कृपा से इन्हें नवयौवन के साथ-साथ आंखें भी प्राप्त हुईं।

भगवती अनसूया के गर्भ से महर्षि अत्रि को तीन पुत्र तथा एक पुत्री उत्पन्न हुई थीं। तीनों पुत्रों के नाम दत्तात्रेय, चन्द्रमा तथा दुर्वासा थे और पुत्री का नाम 'अपाला' था। पुराणों के मत से महर्षि अत्रि के ये तीनों पुत्र क्रमशः भगवान विष्णु, सोम और शिव के अंशभूत थे। भगवान् विष्णु के औदार्य और पालकत्व गुण की महिमा दत्तात्रेय में, सोम के प्रियदर्शनत्व तथा औषधीश होने की महिमा चन्द्रमा में तथा शिव अर्थात् रुद्र की क्रोधात्मिका एवं विनाशक प्रकृति की छाया दुर्वासा में मिलती है। पौराणिक साहित्य में इन तीनों चरित्रों के सम्बन्ध में जो अनेक कथाएं आती हैं, उनका पल्लवन संभवतः इसी आधार पर किया गया होगा। कहा जाता है कि एक बार भगवान विष्णु, सोम और शिव ने महर्षि अत्रि की ज्येष्ठ पत्नी भगवती अनसूया के सतीत्व की परीक्षा लेने की चेष्टा की थी, किन्तु अनसूया ने अपने मातृत्व पूर्ण वात्सल्य से इन तीनों देवताओं को पराजित एवं लज्जित कर दिया था, जिसके कारण इन्हें उनके पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण करना पड़ा था।

भगवती अनसूया और अत्रि का अपनी एकलौती कन्या अपाला पर अनन्य स्नेह था। अपाला बाल्य जीवन में अनुपम सुन्दरी एवं गुणवती कन्या थी, और महर्षि ने अपने प्रगाढ़ स्नेह से उसका पालन-पोषण भी किया था। युवावस्था आने पर उन्होंने सुयोग्य पति से उसका विवाह भी सम्पन्न करा दिया था किन्तु अपाला के भाग्य में सुख नहीं बदा था। पति के घर जाकर वह थोड़े ही दिनों तक सुखपूर्वक रह सकी थी कि अकस्मात् उसके शरीर में कुष्ट रोग उत्पन्न हो गया और देखते ही देखते थोड़े ही दिनों में उसका वह सुन्दर शरीर करुणा का पात्र बन गया। यौवन के अनुपम लावण्य की आभा विलीन हो गई और पहले के अत्यन्त आकर्षक

अंग-प्रत्यंगों में श्वेत कुष्ट के घृणित धब्बों से कुरूपता आ गयी। पहले तो कुछ दिनों तक उसके पति एवं सास-ससुर ने उचित उपचार किए, धैर्य बँधाया, खान-पान की समुचित व्यवस्था की, किन्तु जब कई महीने बीत जाने के बाद भी रोगशान्त नहीं हुआ, उत्तरोत्तर बढ़ता गया तो वे निराश हो गए और अपाला से घृणा करने लगे। जहाँ पहले गृहस्थी का कोई भी कार्य उसकी सम्मति और सहायता के बिना सम्पन्न नहीं होता था वहीं उसके हाथ का जल ग्रहण करना भी वर्जित कर दिया गया। गृहस्थी के कामों में उसके सहयोग की उपेक्षा की जाने लगी और धीरे-धीरे ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी गई कि वह अपने जीवन को भार स्वरूप समझकर उसके समाप्त होने की ईश्वर से प्रार्थना करने लगी।

दुःसाध्य रोग ही मानव जीवन में वास्तविक नरक हैं। नरकों की जिन विभीषिकाओं का वर्णन पुराणों में किया जाता है, उनका प्रत्यक्ष दर्शन रुग्ण जीवन में भी मिलता है। रुग्ण की सब इच्छाएँ मन के भीतर विलीन हो जाती हैं। धरती का सम्पूर्ण सुख आंखों के सामने रहता है किन्तु रुग्ण जनों में उपभोग की शक्ति न होने से वे भीतर ही भीतर तरसते रहते हैं। वे न तो अपनी इच्छा से कुछ खा-पी सकते हैं और न तो किसी की सहायता से ही ऐसे कामों में उनको सन्तोष प्राप्त हो सकता है। रुग्ण अपाला अपने पति के घर नारकीय यातना भोगने लगी और दिनानुदिन उसके शरीर का यह भयंकर रोग प्रचण्ड होता गया। श्वेत दागों के धब्बे लाल हो गए, उनमें दाने निकल आए और फिर गलित कुष्ट का रूप आरम्भ हो गया। जब उसकी यह दशा हुई तो उसके पति ने अपने पिता और माता की अनुज्ञा से अपाला को घर से निकाल दिया। यह सहृदयता भी वह नहीं दिखा सका कि बेचारी को महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँचा देता। रुग्णा अपाला के लिए एक-एक पग भूमि अपार थी। कई दिनों की असह्य यातना भोग कर वह अपने पिता के पुण्यदायी आश्रम में पहुँची। उसे यही विश्वास जीवित बनाए हुए था कि तेजस्वी एवं सर्वसमर्थ पिता के चरणों में जाकर उसकी यह विपदा अवश्य छूट जायगी।

जिस समय रुग्णा अपाला अपने पिता के आश्रम के समीप पहुँची, उस समय महर्षि अत्रि एक बृहत् यज्ञ के सदनुष्ठान में लगे हुए थे। उनका विविक्त आश्रम देश के प्रमुख ऋषियों, मुनियों एवं विद्वजनों की उपस्थिति से देदीप्यमान था। सहस्रों कंठों से उच्चारित सस्वर वैदिक मन्त्रों की ध्वनि से आकाश गूँज रहा था और यज्ञों की सुगन्धित एवं पवित्र धूमराजि से बोझिल शीतल मंद वायु के झँकोरे चराचर को नवजीवन बाँट रहे थे। उल्लास एवं आनन्द की उस पुण्य वेला में परमानन्दित महर्षि अत्रि यज्ञवेदी के समीप ही विराजमान थे कि उन्हें अपने आश्रम में पति-निर्वासिता अपाला के आगमन का दुःसंवाद मिला। वह उसके कुष्ट-रोग का समाचार कुछ दिनों पूर्व पा चुके थे और यज्ञावसान के अनन्तर उसे अपने आश्रम में बुलाने का निश्चय भी कर चुके थे; किन्तु इस बीच वह स्वयमेव यहाँ आ जायगी—इसका अनुमान उन्हें नहीं था। अतः जब उसके आने की खबर उन्हें लगी तो वह विचलित हो गए और क्षण भर के लिए यज्ञ-प्रसंगों से अनुपस्थित होकर उसके समीप पहुँच गए। रुग्णा अपाला लम्बे मार्ग की थकावट और परेशानियों से और भी दीन हो चुकी थी। उसके घावों से दूषित रक्त चू रहा था और उसके विवर्ण मुख पर विषाद की गहरी रेखाएँ थीं।

महर्षि अत्रि को देखते ही अपाला उनके चरणों पर गिर पड़ी। अपनी विपत्ति की करुण गाथा सुनाने की भी उसमें शक्ति नहीं रह गई थी। अपार वेदना के बोझ से विह्वल उसकी वाणी कंठ में ही विलीन हो गई और सिवा सिसकियाँ भरने के वह कुछ भी नहीं कर सकी। महर्षि अत्रि ने देखा, उनकी प्यारी पुत्री अपाला आज बिलकुल बदल उठी है। उसकी वह स्वर्गीय शारीरिक सुषमा अब कहीं नहीं है, जिसे देखकर कभी देवांगनाएँ भी स्पर्धा करती थीं। उसकी वह मुखकांति, जो उसके अग्रजन्मा चन्द्रमा के समान अग-जग को शीतलता एवं सुख प्रदान करने वाली थी, अब करुणा के अपार भार से बोझिल प्रतीत हो रही है। उसका कोकिलकण्ठ नितान्त शुष्क और रूक्ष हो गया है तथा उसके प्रत्येक अंग-प्रत्यंग भयंकर कुष्ट के घावों से अत्यन्त घृणापूर्ण हो रहे हैं। उसके शरीर का वह स्वर्णिम रंग अब

जाने कहाँ विलीन हो गया है। और सच तो यह था कि वह अपाला को पहचान भी नहीं सकते थे, यदि वह स्वयं इनके चरणों पर न गिर पड़ी होती।

अपाला की यह दीन-हीन दशा देखकर महर्षि अत्रि करुणा से विगलित हो गए। उनका हृदय वत्सलता से उद्वेलित हो गया और आखें अश्रु-कणों से भर गयीं। वाणी मन्थर हो गयी अ उन्होंने अपाला को उठाकर अपने कण्ठ से लगा लिया। पिता की इस सघन शीतल स्नेह-छाया का अनुभव कर अपाला कृतार्थ हो गयी; उसने अनुभव किया कि मेरा सब दुःख-दैन्य अब शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। अपने दुःखी पिता को आश्वासन देती हुई वह करुणा भरे कण्ठ में बोली—

'पूज्य तात! मेरे लिए आप अधिक चिन्ता न करें। आप के चरणों की जिस शीतल-सुखद छाया से अग-जग का दैन्य-दारिद्रय दूर हो जाता है वही मेरी इस असाध्य व्याधि को भी दूर करेगा। आप यज्ञ में निश्चिन्त होकर भाग लें, मैं अब सब प्रकार से अपने को सुखी मान रही हूँ।'

महर्षि अत्रि ने अपाला के रुग्ण शरीर पर स्नानोपरान्त औषधियों का लेपन किया। उसके भोजनादि की सुव्यवस्था की और तब यज्ञ-प्रसंगों में भाग लिया। भगवती अनसूया को उन्होंने अभी तक अपाला के आगमन का संवाद भी नहीं सुनाया था। वे महर्षि अत्रि के स्थान पर यज्ञीय कर्मों को संपादित करा रही थीं। जब यज्ञ समाप्त हो गया, पुरोहितों एवं अन्य भाग लेने वाले ऋषियों-मुनियों को दक्षिणा दी जा चुकी और सभी विदा होकर अपने-अपने आश्रम को प्रस्थित हो चुके तब महर्षि अत्रि ने भगवती अनसूया को अपाला के आगमन एवं उसके शरीर की दुःखद स्थिति का संवाद बताया। भगवती अनसूया धैर्यशालिनी देवी थीं। अपाला के इस संकट को सुनकर वे बहुत चिन्तित नहीं हुईं। उन्हें केवल इस बात का खेद अधिक हुआ कि अपाला के संग उसके पति तथा सास-ससुर ने अत्यन्त उपेक्षा का व्यवहार क्यों किया? उन्हें यह भी सन्देह हुआ कि कदाचित् श्वसुर-गृह में अपाला ने अपने दुर्व्यवहारों के कारण ही तो ऐसी उपेक्षा की सृष्टि नहीं कर ली है। वह शान्त चित्त से अपाला के समीप आईं। और

उसकी भयंकर रुग्णावस्था देखकर उसके रोग विमुक्त उपायों का चिन्तन करने लगीं।

महर्षि अत्रि स्वयं आयुर्विज्ञान के प्रवक्ता थे और उनके पुत्र चन्द्रमा को धरती की समस्त औषधियों का राजा कहा जाता था। महर्षि अत्रि का तपोवन एवं आश्रम दिव्य औषधियों का एक अद्भुत संग्रहालय था। उसमें कुष्ट रोग की अचूक जड़ी-बूटियाँ थीं। भगवती अनसूया ने उन अमोघ औषधियों के प्रभाव से अपाला को बहुत शीघ्र ऐसा बना लिया कि उसके शरीर के घावों से जो रक्तस्राव हो रहा था वह शीघ्र ही बंद हो गया। अंगों का गल-गल कर गिरना रुक गया, घावों में जो असह्य वेदना रहती थी, वह रुक गई और शरीर के भीतर जो असह्य ताप हुआ करता था वह भी शांत हो गया। धीरे-धीरे सभी घाव भरने लगे और दो-तीन मास के भीतर ही पूर्ण नीरोग हो गयी।

श्वसुर के घर में अपाला को जिन वस्तुओं का अभाव रहता था, उनकी पिता के घर में कोई कमी नहीं थी। पिता के अपार प्यार और माता के अनुपम स्नेह से वह आप्यायित हो उठती थी। रात-दिन उसकी सुख-सुविधा के उपायों में लगे रहकर महर्षि अत्रि ने अपाला को न केवल बचा लिया वरन् वह पहले से भी अधिक सद्गृहिणी एवं विवेकवती बन गई। पति के घर में पाए हुए व्यावहारिक ज्ञान को उसने अपने स्वाभाविक सद्गुणों से और चमका दिया। अपने थोड़े दिन के उपेक्षा भरे जीवन में उसे जितनी वेदना एवं कुण्ठा उठानी पड़ी थी, उसका उसने इस जीवन में सुन्दर सदुपयोग किया। इस भयंकर रोग ने उसे वस्तुतः देवी बना दिया। रुग्ण जीवन में उसके हृदय में चराचर के प्रति अपार स्नेह भर उठा था। जहाँ पहले वह माता एवं पिता के गृहस्थ जीवन को ही सुख-पूर्ण बनाना अपना कर्त्तव्य समझती थी, वहीं अब उसमें पशु-पक्षी एवं कीट-पतंगों के प्रति भी अपार ममता भर उठी। आश्रम के वृक्षों एवं लताओं में से भी उसे प्यार की पुकार सुनाई पड़ने लगी और नदियों तथा सरोवरों की तरंगों में से स्नेह के पावन सन्देश सुनाई पड़ने लगा। इस असाध्य

रोग की कठोर यातनाओं ने उसके तन मन के सम्पूर्ण विकारों को मथकर बाहर निकाल दिया। नीरोग होते ही वह महर्षि अत्रि के उस पावन आश्रम की सजीव प्रतिमा बन गयी। अपनी अपार सेवा-श्रद्धा एवं सुरुचि से उसने महर्षि अत्रि एवं भगवती अनसूया को परम आह्लादित कर दिया। सर्वत्र पवित्रता की छाप डाल दी और उनके दैनिक जीवन के प्रसंगों में ऐसी रम गई कि उसके बिना आश्रम की कोई व्यवस्था जैसे सम्पन्न ही नहीं हो सकती थी।

किन्तु इन सब के बाद भी अभी महर्षि अत्रि और अनुसूया की चिन्ता अपाला पर थी ही। युवती पुत्री को जीवन भर अपने घर में रखकर कौन पिता और माता सन्तुष्ट रह सकते हैं। अपाला यद्यपि पूर्णतः नीरोग हो चुकी थी और धीरे-धीरे उसका गलित यौवन और सौन्दर्य भी वापस आ रहा था तथापि अभी तक उसमें एक अपूरणीय कमी की पूर्ति करना महर्षि अत्रि के वश में भी नहीं था। गलित कुष्ट के कारण महर्षि अत्रि के आश्रम में आने से पूर्व ही उसके कुछ अंग विकृत हो चुके थे। हाथ और पैरों की उगलियाँ, मुख के ओठों और नासिका तथा कान के कुछ भाग गिर गए थे और पूर्ण नीरोग हो जाने पर भी उनकी पूर्ति नहीं हो सकी थी। अपाला को अपने कठोर पति तथा सास-ससुर से जो उलाहने मिले थे, जो यातनाएँ भोगनी पड़ी थीं, उन्हें सुनकर महर्षि अत्रि ने यह अनुमान सहज ही लगा लिया था कि इस पूर्ण नीरोगावस्था में भी अपाला उनके संग सुख-पूर्वक नहीं रह सकेगी। वे सब शारीरिक सौन्दर्य और यौवन के उपासक थे। इन अपूरित और असुन्दर अंगों के कारण अपाला को अब भी अपमानित होना पड़ेगा। और इधर इस असुन्दरता को दूर करने का कोई उपाय उनके पास था भी नहीं। जो अंगावयव वर्षों पूर्व गलकर गिर चुके हैं, उनकी पूर्ति भला औषधियों द्वारा कैसे संभव हो सकती थी।

महर्षि अत्रि ने अपने पुत्र चन्द्रमा से भी इस विषय में सलाह ली, अन्यान्य ऋषियों-मुनियों से भी परामर्श लिया, किन्तु किसी के द्वारा उन्हें इस असाध्य व्याधि की पूर्ति का आश्वासन नहीं मिला। सब ने अपनी असमर्थता

प्रकट की। इस असमर्थता के कारण महर्षि अत्रि सदा चिन्तित रहते थे और भगवती अनसूया भी दुःख प्रकट करती थीं, किन्तु निरुपाय थे। इधर अपाला को इसकी कोई विशेष चिन्ता नहीं थी क्योंकि अपने अटूट सेवा-धर्म में वह तन-मन से जुटी हुई थी। उसके लिये पिता का यह पावन आश्रम ही स्वर्ग का सुविस्तृत राज्य था। माता-पिता के उस अपार स्नेह में उसे अमृत सरोवर में स्नान करने के समान परम शान्ति मिलती थी और पति तथा सास-ससुर के द्वारा किए गए दुर्व्यवहारों के कारण वह उनका कभी भूलकर भी स्मरण नहीं करती थी। आश्रम के पशु-पक्षी, वृक्ष-लता, एवं कीट-पतंगों से उसे नवजीवन के सन्देश मिलते थे। वायु के शीतल, मंद, सुगंध भरे झकोरों में उसे प्राण शक्ति प्राप्त होती थी, चराचर के अविरल स्नेह-दान से उसके जीवन की दीप-शिखा सर्वदा प्रकाशमान रहती थी। उसमें विषाद और चिन्ता का लेश भी नहीं था।

इस प्रकार अपाला अत्यन्त सुख-सन्तोष और शान्ति का जीवन बिता रही थी। पिता के उस परम पावन आश्रम में उसे किसी प्रकार का अभाव नहीं था। किन्तु चिन्ता उसे कभी-कभी इसी बात की होती थी कि उसके पिता और माता एकान्त में उसके भावी जीवन को सुखी देखने की चर्चा करते हुये निराशा प्रकट करते थे। उसे अपने पति तथा सास-ससुर के समीप भेजने की वार्ता चलाते थे और इस बात की भी व्यथा प्रकट करते थे कि अपाला को जीवन भर अपने आश्रम में रखने से उनकी अपचर्चा फैलेगी। अपाला की बुद्धि में यह नहीं आता था कि जब पुत्र जीवन भर अपने पिता और माता के समीप रह सकता है तो कन्या को जीवन भर पिता और माता की सेवा-शुश्रूषा से वंचित करने का क्या कारण है? धर्मशास्त्र और लोकाचार की इस रहस्यमयी गुत्थी पर जब कभी वह विचार करने बैठती, तब कोई भी संगत लगने वाला तर्क उसकी पकड़ में नहीं आता था। वह यह भी नहीं समझ पाती थी कि उसे कठोर पति एवं स्वार्थी सास-ससुर के घर वापस भेजकर पुनः यातनाओं के भार से बोझिल बनाने की योजना उसके स्नेही माता-पिता क्यों करते हैं? कई बार उसने इस प्रसंग पर अपने माता पिता

से बातें करने का भी निश्चय किया किन्तु संकल्प करके भी वह जब अवसर आता, कुछ भी न कह सकती। अपने परम तेजस्वी पिता एवं संसार का सब कुछ समझने-बूझने की अपार क्षमतामयी माता के सम्मुख पहुँच कर उसकी उत्कंठित वाणी भी मूक हो जाती। सच तो यह था कि वह माता-पिता के विचारों को अपनी बुद्धि की सीमा से बाहर की वस्तु मानती थी। उनके कार्यों एवं विचारों के सम्बन्ध में उसे कुछ सोचना-समझना भी पाप-सा लगता था। अपनी बुद्धि को भावना के ऐसे ही कठोर बँधनों में वह बाँध दिया करती थी।

महर्षि अत्रि ने अपाला के उन अपूरित अंगों की पूर्ति का बहुतेरा उपाय सोचा, परामर्श लिया, औषधियों के प्रयोग किए किन्तु सफलता नहीं मिली। ज्यों-ज्यों असफलता हुई त्यों-त्यों उनकी वेदना का भार भी बढ़ता गया। वे बहुधा उदास रहने लगे और इस चिन्ता को दूर करने के लिए उन्होंने एकान्त में रह कर साधना एवं ध्यान के द्वारा कोई उपाय प्राप्त करने का निश्चय किया। अनसूया यह सब जानती थीं किन्तु अपाला को इसका कुछ भी पता नहीं था। इस निश्चय से अपने आश्रम में ही महर्षि अत्रि ने तीन दिनों का अनुष्ठान पूरा किया। उन तीन दिनों में न तो उन्होंने कुछ खाया-पिया और न किसी से भेंट ही की। निदान उन्हें यह निश्चय मिला कि अपाला के यह असाध्य व्याधि-चिह्न देवराज इन्द्र के प्रसन्न करने पर ही समाप्त हो सकेंगे और देवराज इन्द्र सोमरस के अभिषव से प्रसन्न होंगे।

देवराज इन्द्र महर्षि अत्रि पर सदा परम प्रसन्न रहते थे और उन्हें प्रसन्न किए बिना भी अपाला को वह सुखी बना सकते थे किन्तु महर्षि अत्रि ने इन्द्र से इस छोटे से कार्य के लिए कुछ कहना उचित नहीं समझा। उन्हें यह अडिग विश्वास था कि अपाला अपनी सेवा-परायणता, साधना तथा तपस्या से इन्द्र को सुप्रसन्न कर जो मनोवांछित फल प्राप्त करेगी वह अधिक कल्याणकारी तथा चिरस्थायी होगा। अपाला को उन्होंने इन्द्र को सुप्रसन्न करने के लिए सोमाभिषव का उपदेश किया और यह भी बताया

कि इस सोमाभिषव क्रिया के द्वारा तुम्हारा इहलोक और परलोक सब प्रकार से सुखमय होगा।

अपाला ने पिता की आज्ञा को स्वीकार कर सोमभिषव की क्रिया सम्पन्न कराने का जब सङ्कल्प किया तो उसकी ममतामयी माता अनसूया ने उसे अमोघ आशीर्वाद दिया और महर्षि अत्रि ने शुभमुहूर्त में सम्पन्न इस विधि को सब प्रकार से निर्विघ्न बनाने के उपाय बताए। अपाला साधना के इस दुर्गम पथ पर चल पड़ी। पिता के उपदेश और माता के आशीष का सम्बल उसका सब प्रकार से रक्षक था। उसने संकल्प लिया कि देवराज इन्द्र को वह इस प्रकार से सुप्रसन्न करेगी कि वह प्रत्यक्ष दर्शन देकर उसका जीवन सुखमय करें और उसके अपने ही हाथों से प्रदत्त सोमाभिषव को ग्रहण करें।

अपाला की अखंड साधना चल रही थी। महर्षि अत्रि के उपदिष्ट वेदमन्त्रों से वह प्रतिदिन तीनों संध्याओं में देवराज की स्तुति करती और रात्रि में बड़ी देर तक उनके मन्त्रों का जाप करती। सोमाभिषव की क्रिया निर्विघ्न सम्पन्न करने का अभ्यास करती। एक पूर्ण सोमलता की शुश्रूषा में वह उसी दिन से लग गई थी जिस दिन से पिता ने सोमाभिषव का उसे उपदेश किया था। अपने भाई चन्द्रमा के परामर्श से उसने शारदी-पूर्णिमा की आधी रात में इन्द्र का सोमाभिषव करने का सङ्कल्प लिया था। अभी उस तिथि के आने में कई महीने शेष थे। उस भाग्यशालिनी तिथि के आगमन के लिये अपाला ने अपना तन-मन सब कुछ न्यौछावर कर दिया। साधना के इस दुर्गम पावन-पथ पर वह अविश्रान्त चल रही थी। उसे अपने भावी कल्याण की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी पिता के आदेशों को सविधि पालन करने की। उसे विश्वास था कि मेरी साधना के पथ का तनिक भी प्रमाद पिता की तेजस्वी आँखों से छिपा नहीं रहेगा। और वह स्थिति उसके जीवन में सबसे बड़ी भयंकर और दुःखद होगी। पिता के उस पवित्र आश्रम में अपाला साधना एवं तपस्या की उज्ज्वल ज्योति के समान अपने जीवन को बिता रही थी। दिनानुदिन तपस्या का

अमोघ तेज उसके मुख की कान्ति को बढ़ा रहा था यद्यपि वह शरीर से धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही थी।

आखिरकार वह चिरप्रतीक्षित शारदी पूर्णिमा की पावन तिथि आ गई। चन्द्रमा के पिता महर्षि अत्रि के आश्रम में पहुँचकर उसकी दैवी छटा अनुपम हो गई थी। सारी धरती कामधेनु के दुग्ध से नहाई हुई प्रतीत हो रही थी। वृक्षों एवं लताओं में नूतन प्राण आ गए थे और ऐसा मालूम हो रहा था मानों सम्पूर्ण आश्रम चन्द्रमा से स्रवित होने वाले अमृत के बिन्दुओं से आप्यायित हो रहा हो। आकाश निरभ्र था। मन्दज्योति तारागणों के मध्य में विराजमान चन्द्रमा ऐसा दिखाई पड़ रहा था मानों अभी-अभी अमृत-सागर से निकालकर किसी ने उसे गगनमंडल में प्रतिष्ठित कर दिया है। उसके प्रभामण्डल में जगती के त्रयताप को निवारण करने वाली शक्ति जगमगा रही थी। महर्षि अत्रि और अनसूया उत्कण्ठित मन से अपाला के कल्याण की कामना में निरत थे और स्वयं अपाला इन्द्र की स्तुतियों का अनुध्यान करते हुए अपनी साधना में लीन थी। जब आधीरात का समय समीप आया, तब कई दिनों से निराहार और निर्जला अपाला अपनी साधना कुटी से बाहर निकली। उसने देखा—आकाश के मध्यभाग में विराजमान चन्द्रमा उसे अगले कार्यों को यथाशीघ्र सम्पन्न करने की प्रेरणा दे रहा है। वह उत्फुल्ल हो उठी। चिर साधना की सम्पूर्णता के अमन्द आनन्द से उसका अंग-प्रत्यंग पूरित हो उठा। वह पिता के आश्रम में स्थित निर्मल सरोवर में स्नान करने चल पड़ी।

सरोवर का चिरपरिचित मार्ग अपाला को आज नूतन सन्देशों से गूँजता दिखाई पड़ा। दिशाएँ प्रसन्नता से भरी दिखाई पड़ीं। मंगलदायी पशुओं के दर्शन हुए एवं वाम अंगों के स्फुरण होने लगे। उसे निश्चय होने लगा कि आज देवराज का प्रत्यक्ष दर्शन अवश्य होगा। आश्रम के जिस पवित्र सरोवर की शीतल जलराशि में वह सहस्रों बार स्नान कर चुकी थी, आज वह भी कुछ विचित्र ज्ञात हुआ। उसे लगा मानों उसके भाई चन्द्रमा ने अमृत के सहस्रों सुगंधित घटों से सरोवर को सुधा-सिन्धु बना दिया है।

वह स्नान करके ज्योंही निवृत्त हुई त्यौंही पिता के संकेतसूचक अर्धरात्रि के समीप होने की शंखध्वनि उसे सुनाई पड़ी। वह सुप्रसन्न एवं पुलकित बदन से उस चिराराधित सोमलता की ओर चल पड़ी। उसने देखा उसकी वह चिरपोषिता सोमलता आज किसी दैवी आभा से परिपूर्ण है। उसमें चन्द्रमा की उज्ज्वल ज्योति का ऐसा प्रतिस्फुटन हो रहा है मानों वह स्वयं कोई ज्योतिप्रभा हो। अपाला ने लता के समीप पहुँचकर विधिवत् उसका पूजन-वन्दन किया। ज्यों ही अपाला के पूजन के उपचार सम्पन्न हुए, पिता की कुटी से उसे अर्धरात्रि के होने की शंखध्वनि पुनः सुनाई पड़ी। अपाला हर्षातिरेक में भर उठी। उसने देखा मध्य आकाश में विराजमान चन्द्रमा सुप्रसन्न मुख से उसी की ओर देख रहा है।

अपाला ने देवराज के मंत्रों का सस्वर गायन करते हुए अपने बंद नेत्रों के भीतर उनका अनुध्यान किया। उसका हृदय उमड़ पड़ा। देवराज के चिरप्रतीक्षित दर्शनों के लिए वह लालायित हो उठी। सर्वात्मना देवराज का आवाहन करते हुए उसने अपनी पोषिता सोमलता की एक डाल को अपने मंत्रपूत मुख में डालकर चबाना आरम्भ किया। सोमलता का अपाला के मुख में जाना था कि आकाश मण्डल में देवराज इन्द्र के स्यन्दन की कर्कश ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। उच्चैःश्रवा के वायुवेग से धावित देवराज का वह स्यन्दन क्षणभर में ही अपाला के समीप आकर नीचे धरती पर उतरा और उसमें से उतरकर देवराज अपाला के समीप आगए। फिर तो अपाला के मंत्रपूत मुख में चर्वित सोमरस को स्वयं देवराज ने ग्रहण किया। अपाला यह अद्भुत दृश्य देखकर स्तम्भित रह गई। देवराज की दैवी कान्ति की जगमगाहट से उसकी दीर्घ आँखें मुंद गईं। कर्ण खुले रहकर भी बधिरवत् बन गए और क्षणभर के लिए वह किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गई।

तदनन्तर महर्षि अत्रि पर परम सन्तुष्ट एवं अपाला की अविरत साधना से परम प्रसन्न देवराज ने अपनी धीर-गंभीर किन्तु स्नेहभरी वाणी से आश्रम के वातावरण को झंकृत करते हुए कहा—

'पुत्री अपाले! मैं तुम्हारी साधना से परम प्रसन्न होकर तुम्हारे

सम्मुख स्वयमेव उपस्थित हुआ हूँ। तुम्हारी सोमाभिषव-क्रिया सब प्रकार से सफल और निर्विघ्न रही है। साधना एवं तप के इस दुर्गम मार्ग पर तुम जिस अविचल निष्ठा और श्रद्धा से चल सकी हो, वह धरती पर किसी अन्य के लिए सम्भव नहीं है। मैं तुम पर परम प्रसन्न हूँ देवि! तुम अपना अभीष्ट वरदान मुझसे प्राप्त कर सकती हो।'

देवराज की अमृत वाणी ने अपाला को चेतना दी। उसने अपने दीर्घायत नेत्रों को उठाकर देखा—देवराज दोनों हाथ उठाए हुए सुप्रसन्न मुख एवं नेत्रों से उसे वरदान देने के लिए स्वयं उपस्थित हैं। उनकी अनुपम आभा से समूचा आश्रम देदीप्यमान हो रहा है और उसकी माता अनसूया तथा पिता अत्रि भी देवराज के आगमन की सूचना से उसके समीप ही चले आ रहे हैं। वह प्रसन्नता के इस असह्य भार को सँभालने में विह्वल होकर गदगद वाणी में बोली—

'चराचर के आराध्य देवराज! आप की प्रसन्नता ही मेरा अभीष्ट वरदान है। उपास्य देवता का दर्शन हो जाय, इससे बढ़कर भला आराधक की और दूसरी कौन-सी इच्छा हो सकती है? मेरे सम्मुख तो स्वयं देवताओं के सम्राट् विराजमान हैं। मैं इससे बढ़कर अपना दूसरा कोई सौभाग्य नहीं समझती देवराज।'

ब्रह्मवादिनी अपाला की यह सरल निर्लेप वाणी आकाश में व्याप्त होकर देवराज इन्द्र को आश्चर्यचकित करने लगी। उन्होंने अब तक किसी ऐसे निःस्पृह आराधक का नाम भी नहीं सुना था। अपाला के तेजस्वी मुखमंडल पर अपनी निर्निमेष दृष्टि को फेरते हुए वे फिर प्रसन्न वाणी में बोले—'सच्ची साधना कभी निष्फल नहीं होती और देवराज की प्रसन्नता कभी व्यर्थ नहीं जाती देवि! मैं तुम्हारे शरीर की शेष व्याधि को दूर करने के लिए ही यहाँ आया हूँ। आज से तुम्हारा यह शरीर देवताओं की आभा से चमत्कृत हो उठेगा और तुम अपने अतीत यौवन के साथ चिरकाल तक इहलोक का आनन्द भोग कर परलोक में भी अक्षय सुख का उपयोग

करोगी। तुम्हारी साधना एवं सेवा की यह पावन-कथा लोक में चिरकाल तक चलती रहेगी।'

देवराज की यह मंगल वाणी सुनकर अपाला हर्ष की विह्वलता में उनके चरणों पर गिर पड़ी। महर्षि अत्रि के नेत्र साश्रु हो गए और अनसूया का हृदय हिलोरें लेने लगा। आश्रम में सुधा की वर्षा-सी होने लगी और आकाश का चन्द्रमा धरती पर स्थित अपने पिता के पावन आश्रम की इस अपूर्व सफलता से उत्फुल्ल होकर मुस्कराने लगा। मलयगिरि से आने वाले शीतल मंद सुगंधित पवन ने अपाला की इस सफलता के सन्देश को सम्पूर्ण धरती पर बिखरा दिया। नक्षत्रों में प्रसन्नता की ज्योति आ गयी और दिशाएँ हँसने लगीं। वृक्ष और लताओं की नूतन कलियाँ प्रस्फुटित हो गयीं और आश्रम के पशु-पक्षी तथा कीट-पतंग अर्धरात्रि के इस अक्षय सुख की अनुभूति आँखें बंद करके ही करते रहे।

देवराज ने अपनी दक्षिण भुजा से अपाला की दक्षिण भुजा को पकड़कर अपने रथ की धुरी के छिद्र में से उसे तीन बार भीतर से बाहर और तीन बार बाहर से भीतर निकाला। यह प्रयोग समाप्त होते ही अपाला सौन्दर्य एवं यौवन की दिव्य ज्योति से आलोकित हो उठी। उसकी अपूर्व कमनीय कान्ति से महर्षि अत्रि और देवी अनसूया ही नहीं उनका आश्रम भी आलोकित हो उठा।

× × ×

इस प्रकार अपने पिता-माता के अमोघ आशीर्वाद तथा अपनी अटूट सेवा-परायणता तथा साधना से महर्षि अत्रि की पुत्री अपाला ने न केवल अपना विगलित सौन्दर्य एवं यौवन ही प्राप्त किया वरन् उसने अपने पति तथा सास-ससुर से भी अपूर्व आदर एवं अभ्यर्थना प्राप्त की।

देवापि की देश-सेवा

पुराणप्रसिद्ध पुरुवंश के प्रतापी भूपति महाराज प्रतीप के तीन पुत्र थे। देवापि, शन्तनु और बाह्लीक। इन्हीं महाराज प्रतीप के चौदहवें पूर्व पुरुष महाराज कुरु थे, जिनके नाम पर पुरुवंश को कुरुवंश अथवा कौरव संज्ञा दी गयी। महाराज कुरु से ले कर प्रतीप तक की बारह पीढ़ियों में ऐसा कोई भूपाल नहीं हुआ था, जिसके सम्बन्ध में पुराणों में कोई विशेष चर्चा कहीं की गई हो। वंशावली के प्रसंग में इन सब का केवल नामल्लेख ही मिलता है। महाराज प्रतीप भी कुछ इसी प्रकार के थे। ये शान्तिप्रेमी, तथा पितृ-परम्परा द्वारा प्राप्त वैभव-ऐश्वर्य पर सन्तुष्ट रहने वाले नरपति थे।

महाराज प्रतीप के ज्येष्ठ पुत्र देवापि बाल्यकाल से ही चर्मरोगी थे। उनके सुन्दर सुघटित शरीर पर और विशेषकर मुख और ओठों पर श्वेत कुष्ठ के दाग थे, किन्तु उनका स्वभाव इतना विनम्र, परोपकारी और दीनवत्सल था कि सारी प्रजा उन पर प्रान देती थी। दोनों छोटे भाई भी उन्हें पिता के समान ही आदर करते थे। जब तक महाराज प्रतीप जीवित रहे तीनों भाई एक दूसरे से अभिन्न की भांति उनकी सेवा और शासन के कार्यों में हाथ बंटाते रहे। कभी किसी भी प्रसंग पर उनमें मतभेद नहीं हुआ। जिस बात को एक भाई कह देता था, उसी का अनुमोदन और समर्थन दोनों भाई करते थे। उनमें परस्पर इतना प्रगाढ़ प्रेम था कि कौन बड़ा है, कौन छोटा है, इसका भेद ही नहीं रह गया था। ज्येष्ठ भाई देवापि अपने छोटे भाइयों की प्रत्येक प्रसंग पर प्रतिष्ठा करते थे और उनकी सम्मति लिए बिना कोई काम नहीं करते थे।

तीनों भाइयों के पावन प्रेम की यह शृंखला उत्तरोत्तर सघन होती गयी। ज्यों-ज्यों वे किशोर से वयस्क होते गए त्यों-त्यों उनके पवित्र स्नेह की कड़ी भी बलवान होती गयी। तीनों साथ ही रहते, साथ ही खाते-पीते, साथ

ही अध्ययन करते, साथ ही महाराज प्रतीप के सम्मुख जाते, राजसभा में भाग लेते और शिकार खेलने जाते। महाराज प्रतीप अपने पुत्रों के इस पारस्परिक प्रेम को देख कर फूले नहीं समाते, उन्हें इसका विश्वास हो गया था कि तीनों भाइयों का यह पावन-प्रेम निश्चय ही हमारे वंश एवं राज्य के शाश्वतिक कल्याण का कारण होगा। वे अपने को परम भाग्यशाली अनुभव करते थे, क्योंकि प्रजावर्ग में उनके पुत्रों के सद्गुणों की चर्चा उन्हें प्रतिदिन सुनने को मिलती थी और बुद्धिमान मन्त्रीवर्ग भी उनको इन तीनों भाइयों के सद्वृत्तों एवं सद्गुणों की प्रेरणादायक चर्चा से प्रतिदिन प्रसन्न किया करते थे।

देवापि शरीर से सर्वाधिक बलवान तथा सुन्दर थे, किन्तु श्वेत कुष्ठ की कुव्याधि से वह मन ही मन बहुत चिन्तित रहा करते थे। महाराज प्रतीप को भी इसका बड़ा शोक था, किन्तु सैकड़ों औषधियाँ और उपचारों के बाद भी कोई सफलता नहीं मिल रही थी। मंझले भाई शन्तनु का शरीर यद्यपि देवापि के समान बलवान और परिश्रमी नहीं था तथापि उनकी विलक्षण प्रतिभा और सूझ बूझ का राजधानी में सर्वत्र आदर होता था। जटिल से जटिल विषयों में भी उनकी बुद्धि तत्क्षण प्रवेश कर जाती थी और गहन समस्याएँ भी उनके सम्मुख आकर शीघ्र ही सुलझ जाती थीं। साथ ही उनमें औषधि विज्ञान के प्रति भी गहरी निष्ठा थी। पुराणों का कथन है कि वे जिसे छू देते थे वह युवा हो जाता था और अत्यन्त चंचल प्रकृति भी उनके सम्पर्क में आकर शान्त हो जाता था। उनके शन्तनु नाम का कारण भी कुछ लोग यही बताते है। महाराज प्रतीप उनकी सम्मतियों को मूल्यवान मानते थे और समय-समय पर मंत्रिपरिषद् भी उनके परामर्शों से लाभ उठाती थी। छोटे भाई बाह्लीक की प्रकृति कुछ सुकुमार किन्तु उच्छृंखल थी। वे राजोचित वैभव और ऐश्वर्य के पुजारी, क्रोधी तथा आलसी स्वभाव के थे। विलास और विश्राम की उन्हें अधिक स्पृहा रहती थी। महाराज प्रतीप उनसे केवल इसलिए प्रसन्न रहते थे कि वे देवापि के कृपापात्र थे और शन्तनु भी उन पर प्रेम रखते थे।

तीनों भाइयों की इन तीन विभिन्न प्रवृतियों में समानता केवल इस बात की थी कि प्रजा पर इन तीनों का बड़ा स्नेह रहता था और राज्य की उन्नति और कल्याण की कामना इनके मन में सदा बसती थी।

महाराज प्रतीप के राज्यकाल में ही तीनों पुत्र वयस्क हुए और इनके विवाह के प्रसंग भी उपस्थित हुए। ज्येष्ठ होने के नाते देवापि के विवाह का अवसर बारबार आने लगा। यद्यपि वे शरीर से रुग्ण थे तथापि कौरव वंश के सुविस्तृत राज्य के उत्तराधिकारी होने के नाते ऐसे राजाओं की कमी नहीं थी जो उन्हें अपनी सर्वगुणयुक्त सुन्दरी कन्या को देकर अपने को सौभाग्यशाली न समझते। किन्तु बहुत कुछ आग्रह-अनुरोध करने पर भी देवापि ने अपना विवाह नहीं किया और छोटे भाई शन्तनु के विवाह पर ही बल दिया। निरुपाय होकर महाराज प्रतीप ने शन्तनु और बाह्लीक का विवाह कर दिया और देवापि उनके जीवन काल में ही निजी जीवन से विरक्त-से रहने लगे।

कालधर्म से जब महाराज प्रतीप ने वाणप्रस्थ ग्रहण किया तो देवापि के दुराग्रह और महाराज प्रतीप की आज्ञा से मंत्रिपरिषद् ने शन्तनु को ही राज्याधिकारी घोषित करने का निश्चय किया। किन्तु शन्तनु इस कठोर कार्य के लिए सहसा तैयार नहीं हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता देवापि के चरणों में शिर नवाकर विनम्रतापूर्वक कहा—'पूज्य तात। आपकी विद्यमानता में मैं राज्य का अधिकारी भला किस प्रकार हो सकता हूँ। ऐसा अन्याय करके मैं अपना उभयलोक नष्ट नहीं करना चाहता तात! आप कृपाकर राजसिंहासन पर समारूढ़ हो, मैं आपके आदेशों पर राज्य के संचालन की आजीवन प्रतिज्ञा लेता हूँ।'

किन्तु देवापि ने गद्‌गद् वाणी में उत्तर दिया—'वत्स। तुम्हारे जैसे गुणवान् अनुज को पाकर मैं अपने को भाग्यशाली समझता हूँ। मेरी आज्ञा है कि तुम सिंहासन ग्रहण करो, क्योंकि धर्मशास्त्रों में कुष्ट के रोगी को राजा बनाने की आज्ञा नहीं दी गई है। मैं अपनी ओर से अपना यह पद तुम्हें समर्पित कर रहा हूँ। आज से तुम हम सब के राजा हो और हम तुम्हारे

संकेतों पर चलने वाले होंगे। मैं जब तक जीवित रहूँगा, तुम्हारे आदेशों के अनुसार ही कुरुराज्य और उसकी जनता की भलाई करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करता हूँ।'

निदान निरुपाय होकर शन्तनु को राज सिंहासन ग्रहण करने का अनचाहा निश्चय करना पड़ा और देवापि तथा बाह्लीक ने पूर्ववत् उनके परामर्शदाता बने रहने की प्रतिज्ञा ग्रहण की। किन्तु प्रजावर्ग में इस निश्चय से बड़ा असन्तोष पैदा हुआ। उसके प्रतिनिधियों ने मंत्रिपरिषद् से इस प्रश्न पर पुनर्विचार का आग्रह किया अतः निरुपाय होकर प्रधानामात्य ने देवापि से प्रजावर्ग का मन्तव्य प्रकट करते पुनः निवेदन किया—

—'महाराज! आप धर्म की सूक्ष्म मर्यादा के रक्षक हैं, और महाराज प्रतीप के समय से ही समूचे राज्य की बागडोर संभालते आए हैं। प्रजावर्ग की हार्दिक इच्छा है कि आप ही राज सिंहासन पर विराजमान हों। धर्मशास्त्रों की व्यवस्था इस सम्बन्ध में दोनों तरह की मिलती हैं। बड़े भाई के रहते हुए छोटे भाई का राज्याभिषेक हो—इसकी तो शास्त्रों ने अत्यन्त निन्दा की है, जब कि रुग्ण राजा को राज सिंहासन ग्रहण करने की निन्दा कहीं नहीं है, निषेधमात्र ही मिलता है। आप यदि सिंहासन ग्रहण करेंगे तो प्रजावर्ग को अति सन्तोष और सुख मिलेगा तथा तीनों भाइयों के प्रेम सम्बन्ध भी पूर्ववत् बने रहेंगे। कुमार शन्तनु का राज्याभिषेक होने से कुमार बाह्लीक को भी आपत्ति हो सकती है, और प्रजावर्ग भी सन्तुष्ट नहीं होगा।'—ये दो कठिनाइयाँ उपस्थित हैं।

देवापि ने विनयभरी वाणी में कहा—'अमात्यवर! आप की धर्मयुक्त व्यवस्था का मैं आदर करता हूँ किन्तु समूचे राज्य का और प्रजावर्ग का कल्याण इसी में है कि कुमार शन्तनु राजसिंहासन पर समारूढ़ हों। उनके समान प्रतिभाशाली, गुणवान, बली, पराक्रमी तथा परोपकारी राजा मिलना कुरुराज्य के सौभाग्य की बात होगी। आप को इस बात का भी विश्वास रखना चाहिए कि शन्तनु को सिंहासन दिया जाय—इस प्रसंग में बाह्लीक को कोई आपत्ति नहीं होगी, क्योंकि मैं

बाल्यकाल से ही उनके स्वभाव और भातृ-प्रेम से परिचित हूँ। मैं अपनी ओर से भी आपको यह विश्वास दिला देना चाहता हूँ कि मैं स्वयं राज्य और प्रजावर्ग के कल्याण के प्रयत्नों में सदैव लगा रहूँगा। राजा होकर मैं जो कुछ कर सकता हूँ वह सब मैं शन्तनु की देखरेख में भी करता रहूँगा। सच तो यह है कि मुझ में और शन्तनु में कोई मतभेद कभी रहा ही नहीं और शायद भविष्य में भी ऐसा ही सुखमय जीवन बीत जायगा।'

देवापि की निश्छल और कल्याणकारिणी सम्मति ने प्रधानामात्य के भ्रम को दूर भगा दिया। उन्होंने भी शिर झुकाकर उनके प्रस्ताव का अनुमोदन किया और प्रजावर्ग को समझा बुझा कर शन्तनु के राज्याभिषेक के पक्ष में सहमत कर लिया।

राजपद पर अभिषिक्त होने के अनन्तर महाराज शन्तनु का ऐश्वर्य और विक्रम चमक उठा। देवापि और बाह्लीक के परामर्श से उन्होंने शासन की सुदृढ़ व्यवस्था की। अनेक समीपवर्ती राज्यों को जीतकर अपने राज्य का विस्तार किया और प्रजा के हितकारी कार्यों के द्वारा थोड़े ही दिनों में सब का मन मोह लिया। प्रजा उन्हें परमात्मा का प्रतिनिधि समझ कर अपना सर्वस्व समर्पण करने को तत्पर रहती थी और वह भी प्रजा की सेवा को ही अपना कर्त्तव्य समझकर सब प्रकार से उसके कल्याण एवं उन्नति के प्रयत्नों में दत्तचित्त रहते थे। बहुत वर्षों तक यही क्रम चलता रहा। समूचे कुरुराज्य में सुख सन्तोष और शान्ति का सुखद साम्राज्य रहा।

किन्तु शनैः-शनैः प्रभुत्व और ऐश्वर्य की मोहक मदिरा ने शन्तनु के मस्तिष्क को विकृत किया। वह देवापि और बाह्लीक के भरोसे समूचे राज-प्रबन्ध को छोड़कर राजोचित भोग-विलास की ओर अधिक चित्त लगाने लगे। प्रजावर्ग की सेवा का भार दोनों भाइयों पर छोड़कर अपने लिए ऐहिक सुख-साधनों के एकत्र करने में लग गए। शासन व्यवस्था की ओर से उदासीन होकर शृङ्गार एवं क्रीड़ा के प्रसाधनों की ओर उन्मुख हो गए। इसका परिणाम भी कुछ वैसा ही हुआ। बड़े भाई देवापि का मन शन्तनु के प्रमाद के कारण राज्य-व्यवस्था से ऊब गया, और उन्होंने भी तपश्चर्या के

लिए वन का मार्ग ग्रहण किया और छोटे भाई बाह्लीक भी कुरु राज्य के बाहर एक पृथक् राज्य स्थापित करने की इच्छा से अपने प्रियजनों के साथ राजधानी से बाहर चले गए। अकेले महाराज शन्तनु ही अब कुरुराज्य के सर्वाधिकारी थे किन्तु उनका कुछ भी समय शासन-प्रबन्ध के कार्यों में नहीं लगता था। दिन रात अपने ही भोग-विलास के कार्यों में वह लगे रहते थे और राज्य का समूचा कार्य भार मंत्रिपरिषद् के ऊपर था।

देवापि के चले जाने के अनन्तर कुरुराज्य के प्रबन्ध में अनेक दूषण आ गए। शासन की शिथिलता के साथ ही राजकर्मचारियों में स्वेच्छाचार की भावना बढ़ गयी और प्रजा के चरित्र का स्तर नीचे गिरने लगा। छल-छिद्र और ईर्ष्या-द्वेष के साथ संघर्ष और अशान्ति बढ़ने लगी। जन मन से परोपकार और धार्मिकता नष्ट हो गई तथा स्वार्थ और पाप ने अड्डा जमा लिया। धीरे-धीरे प्राकृतिक उपद्रवों का भी आगमन आरम्भ हो गया। यज्ञादि के पावन प्रसंगों के बन्द हो जाने के कारण समूचे कुरुराज्य में भीषण अवर्षण हुआ। देखते-देखते बारह वर्ष बीत गए किन्तु कृपण मेघों ने कुरु देश की प्रदक्षिणा करने पर भी जल की एक बूंद नहीं बरसाया। देवापि के वनगमन के साथ ही अनावृष्टि कुरु पर आई थी किन्तु शन्तनु को इसकी तनिक भी चिन्ता नहीं थी। धीरे-धीरे समूचा राजकोश रिक्त हो गया, प्रजावर्ग में हाहाकार मच गया। लाखों लोग भूखों मरने की स्थिति में आ गए किन्तु शन्तनु अविचलित थे। उन्हें अपने राग-रंग से फुरसत ही नहीं थी। निदान मंत्रिपरिषद् के सारे प्रबन्ध-कौशल जब समाप्त हो गए तब प्रधानामात्य ने महाराज शन्तनु का ध्यान इस कठिन समस्या की ओर आकर्षित किया।

× × ×

महाराज की सम्मति से प्रधानामात्य ने कुरु प्रदेश के अवर्षण को दूर करने के लिए एक वृहद् सभा बुलाई, जिसमें देश के प्रत्येक अंचल के नीतिनिष्णात और वेदवेत्ता विद्वान् बुलाए गए। सब के सम्मुख अनावृष्टि की यह कठिन समस्या उपस्थित की गई। किसी ने यज्ञों एवं वैदिक क्रिया-

कलापों के अभाव को ही इसका कारण बताया और कुछ विद्वानों ने राज-कुमार देवापि के रहते हुए शन्तनु के राज्याधिकारी होने को ही इसका कारण बताया। अधिकांश ने इसी अन्याय की चर्चा की और महाराज शन्तनु से इसको दूर करने का अनुरोध किया।

मंत्रिपरिषद् महाराज शन्तनु को ही राजा बनाए रखने के पक्ष में थी, क्योंकि देवापि के साधु और उपकारी स्वभाव को वह व्यवस्थित शासन के अनुकूल नहीं समझती थी। निदान जब देश की बृहत् सभा ने देवापि को पुनःसिंहासन पर अधिरूढ़ कराने का प्रस्ताव रखा तो मंत्रियों ने इसका सकारण विरोध किया। प्रधानामात्य ने कहा—'राजकुमार देवापि बहुत दिनों से शासन का भार छोड़ चुके हैं और वर्तमान महाराज उतने ही दिनों से इसका संचालन कर रहे हैं। अनुभव से देखा गया है कि राजकुमार देवापि का स्वभाव राजासिंहासन की अखंड मर्यादा को सुरक्षित और सम्मानित रखने के अनुरूप नहीं है। वे अत्यन्त दयालु होने के कारण अव्यावहारिक हो गए हैं। शासन की महत्ता को स्वीकार करना उनके लिए अति कठिन है। जबकि वर्तमान महाराज के प्रभाव से कुरु प्रदेश की महिमा बहुत बढ़ गई है। शासन में कहीं भी शिथिलता नहीं है। हमें अवर्षण को दूर करने का कुछ दूसरा ही उपाय सोचना पड़ेगा।'

किन्तु सभा ने एकमत से प्रधानामात्य के मत का खण्डन किया और निश्चय किया कि वन से राजकुमार देवापि को बुलाकर पुनः सिंहा-सनाधिरूढ़ कराने में ही कुरु देश का कल्याण है। उन जैसे साधु एवं परोप-कारी महापुरुष के अपमान से ही कुरु की यह दुर्दशा हुई है।

मंत्रिपरिषद् को सभा का यह निर्णय स्वीकार करके चुप रह जाना पड़ा और देवापि को शीघ्र ही वन से वापस बुलाकर सिंहासन पर बिठाने की प्रतिज्ञा लेनी पड़ी। किन्तु सभा के विसर्जित हो जाने के अनन्तर मंत्रियों ने गुप्त मंत्रणा की और यह निश्चय किया कि देवापि की बुद्धि को राज्य की ओर से विमुख कर देने में ही कुरु देश का कल्याण है। फलतः महाराज शन्तनु से छिपाकर मंत्रियों ने वन में तपस्यानिरत देवापि के समीप कुछ ऐसे

ब्राह्मण भेजे जो कट्टर वैदिकधर्मविरोधी तथा धूर्त प्रकृति के थे। इन धूर्त ब्राह्मणों ने मंत्रि-परिषद् की प्रेरणा से देवापि की सरल निर्मल बुद्धि को धीरे-धीरे ग्रस लिया। तपस्वी वेषधारी इन धूर्तों ने शनैः-शनैः देवापि को भी वेद विरोधी बना डाला। जहाँ कुछ दिनों पूर्व वे यज्ञादि वैदिक प्रसंगों में अपना जीवन-यापन कर रहे थे वहीं वेदों और यज्ञों की निन्दा के साथ ब्राह्मणों के भी वे कठोर निन्दक बन गए। उनकी तपश्चर्या खण्डित हो गई और दिन रात व्यर्थ के वाग्जालों में उलझ कर बीतने लगा।

इधर जब महाराज शन्तनु अपनी मंत्रिपरिषद् के साथ देवापि को राजधानी वापस ले जाने के लिए बन में पहुँचे तो देवापि की विचित्र मनः स्थिति थी। जहाँ पहले वह अत्यन्त शान्त, सन्तुष्ट तथा गंभीर मुद्रा में ईश्वरलीन रहते थे वहीं शन्तनु और मंत्रिपरिषद् को देखते ही वह उनसे शास्त्रार्थ करने में उलझ गए। ईश्वर, वेद, यज्ञ और ब्राह्मणों की भरपूर निन्दा करने के साथ ही उन्होंने वेदों के अनुयायी शन्तनु और मंत्रिपरिषद् को भी खूब खरी-खोटी सुनाई। देवापि के इस अप्रत्याशित स्वभाव-परिवर्तन को देखकर महाराज शन्तनु अत्यधिक चिन्तित हुए किन्तु उनके मंत्रियों को इससे विशेष सुख मिला, क्योंकि उनकी योजना सफल हो चुकी थी।

महाराज शन्तनु ने देवापि को बहुत कुछ समझाने-बुझाने की चेष्टा की किन्तु आरम्भ में उनका एक भी प्रयत्न सफल नहीं हुआ। शन्तनु और मंत्रियों की एक बात भी सुनना देवापि के लिये कठिन था। अन्ततः शन्तनु को देवापि की यह परिस्थिति समझने में देर नहीं लगी। उन्होंने सच्चे मन से देवापि के पूर्व संस्कारों को पुनः प्रबुद्ध करने का दृढ़ संकल्प किया और मंत्रि-परिषद् के सदस्यों के साथ उन धूर्त ब्राह्मणों को भी उस तपोवन से राजधानी वापस जाने का आदेश देकर स्वयं कुछ दिनों तक देवापि के संग रहने का निश्चय किया।

मंत्रियों के साथ जब वे धूर्त ब्राह्मण भी तपोवन से राजधानी को वापस चले गए तब देवापि कुछ प्रकृतिस्थ हुए। शन्तनु ने शनैः शनैः

देवापि के विकृत मस्तिष्क को पुनः शुद्ध करने का अथक प्रयत्न किया, किन्तु दीर्घ काल का संस्कार इतनी सरलता से छूटने वाला नहीं था। महाराज शन्तनु को देवापि के साथ अनेक मास बिताने पड़े। शन्तनु की दिन रात की सच्ची सेवा-शुश्रूषा तथा विनयशीलता ने देवापि के निर्मल हृदय को पुनः स्वच्छ कर दिया, उनकी दूर्भावनाएँ मिट गयीं और पुनः देवापि की विचारधारा आस्तिकता तथा वेदनिष्ठा से पूर्ववत् निर्मल हो गयी।

महाराज शन्तनु ने जब देखा कि अब देवापि का हृदय पूर्ववत् शुद्ध हो चुका है, और वे अब कुरुदेश के कल्याण तथा राज्य के सुख-दुःख की बातें पूछने लगे हैं तब एक दिन बड़े आग्रह से उन्हें राजधानी वापस ले चलने की बात कही। देवापि आरम्भ में तो सहमत नहीं हुए, किन्तु जब उन्हें कुरु देश पर बारह वर्ष से होने वाले अवर्षण जन्य अकाल की सूचना मिली तो वे देश-सेवा और जन-कल्याण की भावना से राजधानी वापस चलने के लिए राजी हो गए। किन्तु शन्तनु ने उनसे राजधानी में चलकर पुनः राज-पद स्वीकार करने का जब दुराग्रह किया तो वे बोले—

'भाई! मैंने राज-पद को अपनी ओर से ही तुम्हें सौंप रखा है। तुम मुझसे हर बातों में योग्य हो। जब एक बार शासन का भार तुम्हारे योग्य हाथों में सौंपा जा चुका है तो उसको पुनः वापस लेने की क्या आवश्यकता है। मैं अपने में और तुझमें कोई अन्तर नहीं देखता। मैं राजधानी में रह कर भी तुम्हारे शासन के कार्यों में हाथ बँटाता रहूँगा। कुरु देश की जनता तुम्हारे जैसे सर्वथा योग्य शासक को पाकर धन्य है। मैं राज्य की इस द्वादश वर्ष व्यापिनी अनावृष्टि को दूर करने का अमोघ उपाय जानता हूँ। मैं वृष्टि-काम यज्ञ का सदनुष्ठान कर देवराज इन्द्र को सुप्रसन्न करने की विधि जानता हूँ और राजधानी वापस चल कर उसको सम्पन्न करूँगा।'

इस प्रकार शन्तनु के साथ ज्येष्ठ राजकुमार देवापि जब कुरु राजधानी में वापस आ गए तो प्रजावर्ग को अति सन्तोष हुआ, किन्तु मंत्रिपरिषद के लोग कुछ उन्मन हुए। उन्हें भय था कि देवापि यदि राजपद को अंगीकार कर लेंगे तो मंत्रिपरिषद् के अधिकार खण्डित हो जायेंगे। महाराज शन्तनु ने प्रधाना-

मात्य को बुलाकर देवापि के निर्देशानुसार वृष्टिकाम यज्ञ का अनुष्ठान सम्पन्न करने की आज्ञा दे दी और राज्य के महत्त्वपूर्ण कार्यों में देवापि के परामर्श के अनुसार चलने की प्रेरणा दी। मंत्रियों की स्वेच्छाचारिता मन्थर हो गयी, और धीरे-धीरे वे स्वार्थ-त्याग के साथ ही राज्य के सर्वतोमुखी सुख-साधनों को एकत्र करने में लग गए।

राजकुमार देवापि के आगमन के साथ ही कुरु राज्य की विपत्तियाँ घटने लगीं। वृष्टिकाम यज्ञ का समारम्भ होते ही बादलों की मोहक घटाएँ घिर आईं। जहाँ बारह वर्ष की निरन्तर अनावृष्टि से धरती जल रही थी, जल के अभाव में समुद्र-गामिनी नदियाँ भी सूख गई थीं। वनस्पति निष्पत्र होकर रुदन कर रहे थे, पशु-पक्षी कठिनता से दिखाई पड़ते थे, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ था, वहाँ मेघों की घड़घड़ाहट सुनकर समृद्धि और सुषमा का सागर लहराने लगा। वेदनिष्णात पुरोहितों और ऋत्विजों ने अगाध श्रद्धा और भक्ति से मंत्रों का सविधि उच्चारण करते हुए प्रज्वलित अग्नि कुण्डों में अब आहुतियाँ कीं तो उनकी धूमरेखा से राजधानी का प्रत्येक अंचल ही नहीं, समस्त कुरुराज्य की सीमा आमोद पूरित हो गयी। धरती के इस परमसुख की संवर्धना गगनमण्डल तक फैल गई। आकाशचारी देवयानों की प्रसन्नता ने बादलों को बोझिल बना दिया। वृहस्पति समेत देवराज विहँस पड़े। आनन्दातिरेक से उन्हें कुरु को पुनः पूर्ववत् सुखी, सम्पन्न और समृद्ध बनाने के लिये मेघों को आज्ञा देनी ही पड़ी। फिर तो वह सुखदायिनी वृष्टि हुई कि समूचा कुरु देश प्रसन्नता से उमड़ पड़ा। नदी, सरोवर, वृक्ष, लताएँ और खेतों में प्राण संचारित हो गए। पशु-पक्षियों के आश्रय-स्थल गुँजरित हो गए। प्रजा वर्ग पूर्ववत् अपने जीवन के कार्यों में चित्त लगाकर शन्तनु और देवापि के गुणगान में निरत होने लगा।

महाराज शन्तनु ने प्रजा के कल्याणकामी राजकुमार देवापि का अभिनन्दन किया और चारों ओर फैले हुए सुख के समुद्र की लहरों पर झूमते हुए उनसे निवेदन किया—'तात! आपकी अनुपस्थिति ही कुरु के समस्त अभावों और दुःखों की जननी थी। आप स्वयं देखें कि समूचे कुरु राज्य में

जहाँ कल तक यम का निवास था, दुःख और दारिद्र्य की दावाग्नि जल रही थी वहीं अब समृद्धि और सुख-शान्ति की लहरें दौड़ रही हैं। मेरा और समस्त प्रजावर्ग का आग्रह है कि आप राजधानी को छोड़कर क्षण भर के लिये भी कहीं दूर न जाँय। हम आपके संकेतों पर चलने के लिये सहर्ष तत्पर हैं, आप की अखंडित तपश्चर्या राजधानी के व्यस्त जीवन से दूर किसी एकान्त में भी चल सकती है।'

देवापि ने मुस्कराते हुए कहा—'तात। मैं आप के और आप की प्रजा के कल्याण के लिए सदैव सब कुछ करने को तैयार हूँ। आप निश्चिन्त रहें।'

शन्तनु और देवापि की यह मंगलवाणी समूची राजधानी में गूँज गई। प्रजा ने उत्सव मनाए और मंत्रिपरिषद् ने भी देवापि के अमोघ प्रभाव को शिरसा स्वीकार कर सब प्रकार से प्रजाहित के कार्यों की मानसिक शपथ ग्रहण की। कुरुदेश के बीते दिन वापस लौट आए। अमंगलों की बेला बीत गयी और चारों ओर स्वर्गीय सुखों की सघन छाया फैल गयी। सब प्रकार की व्याधियाँ मिट गईं। निष्कपट भ्रातृ-स्नेह के इस पावन प्रसंग ने देश भर की जनता के मन से स्वार्थों के संघर्ष एवं विकल्प मिटा दिये और छल-छिद्रादि तथा घृणित कलुषों के स्थान पर उनके हृदयों में प्रेम और सेवा की अमिट रेखाएँ अंकित कर दीं।

o:—:o

पृथ्वी का पिता

प्राचीन भारतीय सभ्यता में न्याय और शासन व्यवस्था के प्रति आदिम काल से ही उच्च भावना थी। सुदृढ़ सामाजिक अनुशासन और व्यक्तिगत आचरण की शुद्धता दोनों ही ओर सबका ध्यान रहता था। विशेषकर शासन का तो यह मुख्य कर्तव्य ही था कि वह समाज और व्यक्ति दोनों ही को ऊपर उठाने का यत्न करे। सृष्टि के समस्त कार्य-व्यापारों को भली भाँति चलाने के लिए ही इस राजतन्त्र की व्यवस्था की गई थी जो सहस्रों वर्षों तक अबाध रूप से इस विस्तृत भूखंड पर चलती रही। वैदिक काल में राजाओं का निर्वाचन प्रजा करती थी और वह देखती थी कि—'किस योग्य पुरुष को राजा बनाने से हमारी विजय होगी, हमारी उन्नति होगी, हमारा आरोग्य बढ़ेगा, हमारा तेज, हमारा ज्ञान और हमारा आत्मिक बल बढ़ेगा। हमारे यज्ञ सफल होंगे, हमारे पशु उत्तम होंगे, हमारी सन्ततियाँ बलवान और चरित्रवान बनेंगी और शूर वीर पुरुषों की अच्छी संख्या हमारे देश में होगी।' इन सभी बातों को ध्यान में रखकर ही प्रजा अपने राजा या शासक का चुनाव करती थी।

प्रजा का अनुमोदन जिसे प्राप्त नहीं होता था वह राजा नहीं हो सकता था, भले ही वह राजपुत्र क्यों न हो। किन्तु ऐसा लगता है कि चिरकाल तक एक ही रूप में पड़े हुए शासन तन्त्र की गड़बड़ियों के कारण जनता की चेतना इस ओर से उपेक्षित होने लगी और धीरे-धीरे राजा लोग आनुवंशिक परम्परा के अधिकारी बनने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि जिन उत्तमोत्तम फलों की आशा से राजा का पद बनाया गया था, उसका सर्वथा अभाव होने लगा, राजा लोग अपने अधिकारों को ईश्वर प्रदत्त समझ कर निरंकुश हो गए और प्रजा के हिताहित की चिन्ता छोड़कर स्वेच्छाचारी बन गए। परस्पर के ईर्ष्या-द्वेष, छल-छन्द एवं दुर्व्यसनों के कारण प्रजा का पालन-पोषण

एवं अनुरंजन करना तो दूर वे उल्टे प्रजा के शोषक और पीड़क बन कर उन पर शासन करने के जन्मजात अधिकारी बन गए। जहाँ उनसे यह आशा की जाती थी कि वे प्रजा की सेवा के लिए इस पद पर विराजमान हैं तहाँ वे प्रजा से सब प्रकार की सेवा लेना ही अपना अधिकार समझने लगे। जिनकी कृपा के प्रसाद से उन्हें राज-पद प्राप्त होता था, उन्हें वह अपनी ही कृपा का पात्र समझने लगे। स्वयं को ईश्वर या सर्वदेवमय होने की घोषणा कराकर वह अपने को निर्बाध मानने लगे और यह समझ बैठे कि जब तक धरती पर चन्द्रमा और सूर्य का अस्तित्व है तब तक राजतन्त्र की पद्धति भी अक्षुण्ण चलती रहेगी। इस मोह-निद्रा का जो परिणाम होना था, वही हुआ। चिर काल तक राजाओं द्वारा बनवाकर प्रजा को पिलाई गई इस मोह-मदिरा की मत्तत्ता अन्ततः दूर हो गई और प्रजा ने अपने अधिकार सूत्रों को पुनः अपने हाथों में वापस ले लिया। जो लोग वंशपरम्परानुसार राजा बनकर चिरकाल से ऊँचे सिंहासनों पर विराजमान थे, वे नीचे उतार दिए गए और प्रजा ने पुनः अपना शासक चुनना आरम्भ कर दिया। विशेषता यही रही कि पहले की निर्वाचन पद्धति कुछ और थी और आज की कुछ और हो गयी है। पहले यदि राजा का निर्वाचन उसके जीवन भर के लिए अथवा जब तक प्रतिज्ञा का पालन करे तब तक के लिए किया जाता था, तो आज के शासक का चुनाव कुछ सीमित अवधि भर के लिए ही किया जाता है, क्योंकि चिरकाल की प्रभुता कितना अनर्थ कर देती है, इसका दुःखद अनुभव आज की प्रजा को सर्वाधिक है।

प्रजा द्वारा राजा के निर्वाचन की प्राचीन प्रथा का अन्त प्रजा वर्ग की उदासीनता अथवा राजाओं द्वारा निर्मित वे परिस्थितियाँ थीं, जिनमें पड़कर वह चिरकाल की एकरसता के कारण अवसन्न हो गयी थी। किन्तु बीच-बीच में ऐसे भी उदाहरण प्राप्त होते हैं जब राजा की स्वेच्छाचारिता से पीड़ित प्रजा ने राजा को अपदस्थ कर के उसके स्थान पर दूसरे को राजा चुन दिया था। अन्यायी शासक बेन की पौराणिक कथा इस प्रसंग पर सुन्दर प्रकाश डालती है।

सूर्यवंश में स्वायम्भुव मनु का वंशज अंग नामक राजा बड़ा ही दयालु तथा न्यायपरायण था। प्रजा के हित के लिए उसने ऐसे अनेक कार्य किए थे जिनके कारण बाद में चलकर उसी के नाम पर अंग देश की प्रसिद्ध हुई। अंग की रानी सुनीथा मृत्यु की कन्या थी और वह बड़ी ही कुरूपा और दुष्ट प्रकृति की स्त्री थी। पति के पुण्य कार्यों में अहर्निश विघ्न डालना ही उसका काम था। सुनीथा के संयोग से राजा अंग को बेन नामक पुत्र उत्पन्न हुआ था जो युवा होने पर अत्यन्त पराक्रमी, शूर-वीर किन्तु माता के स्वभाव के अनुरूप परम विधर्मी तथा पीडक शासक हुआ। अंग राज़ के वानप्रस्थी जीवन अपना लेने पर जब बेन के प्रचण्ड हाथों में शासन-सत्ता स्थिर हुई तो धरती काँप गयी। अनाचारियों एवं पापियों का अभ्युदय होने लगा तथा धर्मपरायण, सज्जनों एवं दीन दुःखियों को नारकीय यातनाएँ उठानी पड़ीं। अबलाओं की मर्यादा नष्ट हो गयी और देवताओं तथा पितरों के कार्य बंद कर दिए गए। अन्यायी बेन ने अपनी अपराजेय एवं परम दुर्धर्ष सेना लेकर धरती के सम्पूर्ण अंचलों को अपने पैरों से रौंद डाला और जिसने भी सामने शिर उठाया, उसने सब को समाप्त कर दिया। सत्प्रवृत्तियां तिरोहित हो गयीं और वीभत्स गुण्डे-गर्दी का नंगा नाच समूचे साम्राज्य में होने लगा। जो लोग कामी, लोभी, दुर्व्यसनी तथा नीच प्रकृति के थे, उन्हें चुन-चुनकर बेन ने शासन के ऊँचे पदों पर बैठा दिया और जो न्यायपरायण, धार्मिक तथा सदाचारी थे, उन्हें अपदस्थ करके या तो मार डाला या वे स्वयं ही उसका राज्य छोड़-कर पर्वतों की गुफाओं में भाग गए। बेन ने चारों ओर घोषणा करा दी कि 'अब से इस मेरे राज्य में न तो कोई यज्ञ कर सकता है और न जप-तप। ईश्वर मैं ही हूँ, लोक मेरा ही स्मरण करें, मैं उनकी सब विपत्तियाँ दूर कर सकता हूँ। मेरे ही उद्देश्य से यज्ञ, जप, तप सब कुछ किया जाय, क्योंकि इस लोक में एवं परलोक में मैं सब के कल्याण करने की शक्ति रखता हूँ।'

अन्यायी बेन की इस आसुरी घोषणा से धरती अवसन्न हो गयी और

चारों ओर निस्तब्धता छा गयी। किसी में यह साहस नहीं था जो उसकी आज्ञा के विरोध में एक शब्द भी बोल देता। भीतर ही भीतर असन्तोष और अशान्ति की ज्वाला धधकने लगी और बाहर भी अत्याचारी गुण्डों की स्वेच्छाचारिता से धीरे-धीरे हाहाकार फैलने लगा। उसके क्रूर कुशासन में न कोई दण्ड-व्यवस्था रह गयी और न न्याय-निष्ठा। शासन के ऊँचे पदों पर बैठाए गए निरंकुश अत्याचारी गुण्डों ने अपने सुख-स्वार्थों की वेदी पर प्रजा के हितों का बलिदान करना आरम्भ कर दिया। प्रजा की धन-सम्पत्ति की तो कोई बात ही नहीं उनकी स्त्री एवं कन्याओं को भी वे बलात् छीनने लगे। और रात दिन मदिरा की मोहक नशा में चूर रहकर शासन व्यवस्था से दूर-दूर रहने लगे। फिर तो वही हुआ, जो स्वाभाविक था। प्रजा की सहन शक्ति समाप्त हो गयी। उसमें विद्रोह की वह ज्वाला धधकी, जिसकी प्रचण्ड आँच में अपने समस्त अनुगामियों समेत बेन दग्ध हो गया। कुछ पुराणों का कथन है कि ऋषियों ने उसे अपने शाप से और कुछ का कथन है कि प्रजा वर्ग ने अपने क्रोध से उसे भस्म कर दिया और उसकी दाहिनी पृथु (मोटी) भुजा का मन्थन कर एक दूसरा राजा पैदा किया गया जो रूप, गुण और ऐश्वर्य में सब प्रकार से अनुपम था। प्रजा की आन्तरिक लालसाओं के अनुरूप यह राजा अपने दैवी गुणों के कारण पृथ्वी वल्लभ हुआ। और बेन की पृथु भुजाओं से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम 'पृथु' रखा गया।

पृथु योग्य शासक हुआ। प्रजा वर्ग एवं ऋषियों-मुनियों ने यद्यपि उसे पिता के साम्राज्य का उत्तराधिकारी घोषित कर के सिंहासन पर अभिषिक्त भी कर दिया था तथापि उसने राजोचित सद्गुणों की प्राप्ति के लिए वर्षों तक कठोर साधना और तपस्या की। ब्रह्मचर्य और निष्ठापूर्वक भगवदाराधना में रहकर उसने दैवी गुणों की प्राप्ति की और इस प्रकार सर्वसुविधासम्पन्न होकर उसने धरती का शासन-सूत्र अपने योग्य हाथों में लिया। उसने देखा, चारों ओर हाहाकार मचा हुआ है, बलवान लोग निर्बलों को सता रहे हैं, पाप, पाषण्ड, लोभ, मोह, अज्ञान की बन आयी है, अनध्यायी और दम्भियों

के हाथों में पड़कर यज्ञ-होम की मर्यादा कलंकित हो रही है, अधर्म और अव्यवस्था ने चराचर में अशान्ति फैला दी है। इस कुशासन की जड़ में बेन द्वारा स्थापित आततायी अधिकारियों को देखकर उसने गहराई में विचार किया कि जब तक प्रजा वर्ग में व्याप्त आंतक का मैं निराकरण नहीं कर देता और उन्हें स्वावलंबी नहीं बना देता तब तक सुख-समृद्धि और शान्ति का होना असंभव है। ऐसा सोचकर उसने अपना प्रचण्ड धनुष सँभाला और उसकी प्रत्यंचा खींचकर रोमाँचकारी गर्जना की। उसके गर्जन से दिङ्मंडल गूँज उठे, सीमान्त पर्वतों की कन्दराओं से प्रतिध्वनित उसकी यह गर्जना समुद्र की लहरों पर बैठकर आकाश तक फैल गयी। आततायियों ने समझ लिया कि उनके बुरे दिन आ गए हैं। पुराणों का कथन है कि पृथु की इस भयंकर गर्जना एवं आवेश को देखकर धरती काँप उठी और दिग्पाल थर्रा गए। आकाशस्थ चन्द्रमा और सूर्य की किरणें धूमिल पड़ गयीं, वन्य एवं जलीय जन्तु भी घबराकर भागने लगे, पक्षियों का कलरव बंद हो गया और क्षण भर के लिए नदियों की गति मंद हो गयी। चिरकाल से पीड़ित एवं अवशा धरित्री गाय का रूप धारण कर उसके सामने पहुँची और दोनों आंखों में आँसू भर कर आर्त्तस्वर में मानव वाणी द्वारा उसने यह निवेदन किया—

—'मेरे स्वामिन्! मैं क्या करूँ? मेरे लिए आपकी क्या आज्ञा है?'

पृथु धीर गंभीर खड़ा था। धनुष की प्रत्यंचा पर अब भी उसकी उँगलियाँ नाच रही थीं, और उसके प्रदीप्त मुखमण्डल पर अंगारे की तरह जलती हुई दोनों आंखों के कोणों में अमर्ष की बूँदें सूखने का यत्न कर रही थीं। निचला होंठ यद्यपि सूखा नहीं था किन्तु उस पर गड़े हुए दाँतों के चिह्न अब भी दृष्टिगोचर हो रहे थे और भौहों का टेढ़ापन अब भी ऋजुता को प्राप्त नहीं हुआ था। साँसें अब भी अवरोध के साथ गरम निकल रही थीं। किन्तु धरित्री की कोमल मानव वाणी की करुणा ने उसके कानों में प्रविष्ट होते ही हृदय को पिघला दिया। वह दयार्द्र होकर गद्गद हो उठा। प्यार भरे स्वर में धेनुरूपधारिणी धरित्री की पीठ को सहलाते हुए उसने कहा—

—'सुव्रते ! तुम्हारी वाणी ने मेरे हृदय के असह्य बोझ को हल्का कर दिया है। मैं चाहता हूँ, तुम शीघ्र ही इस सम्पूर्ण चराचर जगत को मनोवांछित फलों की सिद्धि दो। संसार के अभावों को समाप्त कर दो, और सर्वत्र शान्ति और सुख की लहरें बहा दो।'

धरती की आंखें चमक उठीं, उनमें आँसू की बूँदें छलछला उठीं, पूँछ ऊपर उठ गयी, और चारों स्तनों से अपने आप ही दुग्ध की धारा बह निकली। वह बोली—'मेरे प्यारे स्वामिन्! मैं तुम्हारे लिए और तुम्हारी प्रजा के लिए सब कुछ करने को तैयार हूँ। तुम जिस तरह चाहो मेरा उपभोग कर सकते हो।'

धरती की बात समाप्त भी नहीं हुई थी कि आकाश स्थित देवयानों से फूलों की वर्षा होने लगी, शीतल मंद सुगंध वायु बहने लगी, आकाश प्रसन्न हो गया और चराचर जगत में आशा और आत्म विश्वास की भावनाएँ बलवती हो उठीं। पृथु ने धरती का पुनःसंस्कार किया। उसे कृषि योग्य बनाया। पहले जहाँ उसमें बीहड़ पर्वत, वन और रेत फैली हुई थी, चारों ओर दुर्गम पर्वतों, वनों, नदियों एवं नालों का जाल था, उनमें से पृथु ने जिन्हें-जिन्हें अनावश्यक समझा, सबको धरासात् करके धरती को कृषियोग्य बनाया और निठल्ले एवं बेकार बैठे हुए वन्यजीवी प्रजावर्ग में पशुपालन तथा कृषि कर्म की सत्प्रेरणा पैदा की। शारीरिक श्रम को महत्त्व देते हुए उसने यज्ञ, होम, जप एवं तप की भी नूतन परम्पराएँ स्थापित कीं, और धरती की अपनी पुत्री के समान सब प्रकार से सम्बर्धना की।

पृथु की आँखें निर्माण की ओर थीं, उसने अपने विनय भरे आचरणों एवं उपदेशों से प्रजा वर्ग में ऐसी चेतना पैदा कर दी कि कुछ दिनों पूर्व जो लोग हताश, आलसी और अनाचारी थे वे ही उत्साही, उद्यमी और अपने-अपने कर्तव्यों के पुजारी बन गए। कर्मठता एवं पवित्र विचारों से भरा धरती के लोगों का जीवन देखकर स्वर्गवासी देवता भी ईर्ष्यालु बन गए। धरती पर न दम्भ रह गया न पाषण्ड, फिर तो असत्य, हिंसा, परद्रोह, लोभ, अभिमान, एवं कपटाचरण को प्रश्रय ही कहाँ से मिलता?

तात्पर्य यह कि धरती को स्वर्ग बना देने में पृथु ने कोई कसर उठा नहीं रखी। किन्तु अभी तक उसने अपने पिता के समय से उच्च शासन पदों पर विराजमान अधिकारियों की ओर दृष्टिपात भी नहीं किया था, उसका विचार था कि प्रजावर्ग के सद् आचरणों एवं विचारों का सुपरिणाम इन पर भी अवश्य ही होगा।

सुपरिणाम अवश्यम्भावी था। उन आततायी शासकों की मोह-मदिरा की मत्तता अपने आप ही बीत गई। वे शोषक से सेवक और पीड़क से पालक बन गए। पाप-पाखंड का दिवाला निकल गया और सुमति के उज्ज्वल प्रकाश में उनकी मानसिक कुप्रवृत्तियों का सर्वदा के लिए तिरोधान हो गया। उस महान ऐश्वर्यशाली एवं नीतिमान राजा ने इस प्रकार से रक्त की एक बूँद बिना बहाए ही सदा के लिए सम्पूर्ण धरती को अपने वश में कर लिया और तदनन्तर उसके 'पृथु' नाम के कारण धरती का 'पृथ्वी' नाम पड़ा।

राजा वेन और पृथु की यह पौराणिक कथा प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था पर सुन्दर प्रकाश डालती है और इससे इस बात का भी पता लगता है कि प्राचीन काल में हमारे यहाँ शासनतन्त्र के बनाने और बिगाड़ने में प्रजावर्ग का कितना हाथ होता था। आज की जनतन्त्रीय शासन व्यवस्था के बहुत कुछ समान ही प्राचीन काल की वह राजतन्त्र शासन-व्यवस्था भी थी, जिसके उदाहरण के रूप में आततायी वेन की कथा का संक्षिप्त रूप ऊपर दिया गया है।

कच और देवयानी

असुरों के आचार्य शुक्र की विद्या-बुद्धि का वैभव त्रैलोक्य में अद्वितीय था। उनकी नीतिज्ञता तथा कूटबुद्धि से समस्त देवजाति संत्रस्त थी। असुरों की प्रचण्ड वीरता तथा दुर्जेय सेना का सुरों में उतना आतंक नहीं था, जितना शुक्र की संजीवनी विद्या एवं कूटनीति का। शुक्र का ही ऐसा प्रभाव था कि आततायी असुरों की सहस्रों अनीतियों के विपरीत भी प्रकृति असुरों की सहायक थी। असुरों के राज्य में बिना जोते-बोए वसुन्धरा धनधान्य से भरी-पुरी रहती थी। धरती के प्रत्येक अंचल पर सदा ही वसन्त का मोहक सौन्दर्य बिखरता रहता था। नदियों एवं सरोवरों की अगाध निर्मल जलराशि जितनी ही प्रजा की समृद्धि एवं शान्ति की भी प्रशंसा होती थी। वायु दसों दिशाओं में असुरों का यशोगान करता था और अग्नि उनके प्रचण्ड तेज से अपनी लपटों को भीषण बनाता था। असुरों का अट्टहास चन्द्रमा को और तेज सूर्य को मलिन कर देता था। असुर जिधर चलते थे उधर की धरती नीचे धँस जाती थी, और समस्त सुर भयभीत होकर दुबक जाते थे। यह सब प्रभाव शुक्र की अमोघ संजीवनी विद्या का था जिसकी समता में कोई शक्ति सुरों के पास नहीं थी।

वह संजीवनी विद्या शुक्र की परम्परागत पैतृक सम्पत्ति थी, जिसका रहस्य उनके पितामह भगवान् ब्रह्मा ने अपने सर्वप्रिय पुत्र महर्षि भृगु को और महर्षि भृगु ने अपने एकलौते बेटे शुक्र को बताया था। शुक्र को छोड़कर समूचे संसार में उस संजीवनी विद्या का रहस्य किसी अन्य व्यक्ति को मालूम नहीं था और न मालूम हो ही सकता था क्योंकि उसका ऐसा ही गूढ़ विधान था।

सुरों और असुरों का अमर्ष जब पराकाष्ठा को पहुँचता तब घमासान युद्ध होता, और विशाल धन-जन की हानि होती। एक ओर आचार्य शुक्र अपनी इस विद्या के प्रभाव से जहां अपने आश्रित असुरों की सेना को

पुनर्जीवन और यौवन दे देते वहां सुरों की सेना धीरे-धीरे समाप्त होने को पहुँच जाती। रात-दिन चलने वाले इस प्रकार के अनेक भयानक युद्धों में सुरों की सारी सैन्य-शक्ति जब शनैः शनैः समाप्त हो गयी तब वे अपने प्राण बचाने की लालसा से भागकर दुर्गम पर्वतों और नदियों के एकान्त स्थलों में कालयापन करने लगे।

सुरों के आचार्य अथवा मन्त्री थे बृहस्पति। विद्या और बुद्धि की कमी उनमें भी नहीं थी, किन्तु वह संजीवनी विद्या उनके पास नहीं थी, जिसकी सुरों को इस संकट में सबसे अधिक आवश्यकता थी। इन्द्रादि देवताओं की दुश्चिन्ता में आकुल बृहस्पति को भी कुछ सुझाई नहीं पड़ रहा था कि क्या किया जाय ? कई दिन बीते रातें बीतीं, किन्तु सुरों की दुश्चिन्ता नहीं बीती क्योंकि इस प्राणघाती असुर जाति से त्राण पाने की कोई दूसरी युक्ति उनके पास नहीं थी। वे संजीवनी विद्या को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा में धरती और आसमान एक करने को जुट गये किन्तु उस विद्या को वे कैसे प्राप्त करते जिसका एकमात्र आधार शुक्राचार्य जैसा अत्यन्त जटिल एवं कूटनीतिज्ञ पुरुष था।

शुक्राचार्य से उस परम रहस्यमयी विद्या को प्राप्त करने का उपाय सोचा ही जा रहा था कि बृहस्पति का नवयुवक पुत्र कच मुस्कराता हुआ देवताओं की उस भरी सभा में आ पहुँचा। कच के शारीरिक संघटनों में सुरों की मोहकता एवं कमनीयता तो थी ही, यौवनावस्था के मनोरम संकेतों से वह कामदेव को भी लज्जित कर रहा था। विद्या और बुद्धि का अनुपम संयोग उसमें था। निराशा और दुश्चिन्ता की क्रूर लपटों में झुलसे हुए देवताओं के मुख-मण्डल कच की छलकती हुई प्रसन्नता के छींटों से अनायास ही कुछ आश्वस्त हो गये। देवराज इन्द्र ने अपनी धीर-गम्भीर वाणी से प्यार के स्वर में पूछा—'आयुष्मन्! क्या देवजाति की विपदा का तुम्हें पता नहीं है, जो इस प्रकार निश्चिन्त तथा प्रसन्न दिखाई पड़ रहे हो।'

कच को थोड़ा संकोच हुआ। अपनी विशाल भौंहों को तनिक मोड़कर उसने आँखें नीची कर लीं और विनय भरी वाणी में कहा—

'तात ! मुझे उसका पूरा पता है, मैं तो उसी का समाधान लेकर आप के पास आया हूँ। शुक्राचार्य से उस रहस्यमयी संजीवनी विद्या को प्राप्त करने का कार्य अपने कंधों पर मैं ले रहा हूँ।'

कच की अटूट विश्वास भरी वाणी ने निराश देवमण्डली में आशा की लहर फैला दी। चन्द्रमा की किरणें प्रसन्न हो गयीं। अग्नि का मुखमण्डल ज्योतित हो उठा, भास्कर की मुरझाई रश्मियाँ चमक उठीं, वायु की प्रसन्नता से भरी सांसे आन्तरिक आह्लाद से सुगन्धित हो उठीं, बृहस्पति का हृदय हिलोरें लेने लगा और देवराज तो फूले नहीं समाए। आसन से उठकर अपनी विशाल भुजाओं में उन्होंने कच को समेट लिया और मस्तक को सूंघते हुए गदगद वाणी में बोले--'आयुष्मन् कच ! तुमने समूची देवजाति को बचाने का महान् कार्य अपने ऊपर लिया है। हमारे पुण्य तुम्हारी सहायता करेंगे। हमें आशा है, तुम अपने कर्तव्यपथ से अविचलित रहकर हम सबका कल्याण साधन करोगे।'

दूसरे दिन कच जब शुक्राचार्य के आश्रम को प्रस्थित हुआ तो समूची देवमण्डली ने उसकी यात्रा को मंगलमयी बनाने के आयोजन रचे और अपने पुण्यबल के आशीर्वादों से उसका हार्दिक अभिनन्दन किया।

शुक्राचार्य का आश्रम त्रिभुवन की समृद्धियों से भरा था। तपस्या और राजसी ठाटबाट की सारी वस्तुएँ वहाँ विद्यमान थीं। संसार की ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती थी, जो शुक्र के आश्रम में न मिले। इसका कारण यह नहीं था कि बीतराग शुक्राचार्य को इन सभी वस्तुओं की आवश्यकता थी प्रत्युत शुक्राचार्य की एकलौती बेटी देवयानी की उद्दाम लालसाओं ने पिता के आश्रम को राज-दरबार की भाँति भरा पुरा और सजावट से पूर्ण बना दिया था। शुक्राचार्य के संकेतों पर नाचने वाले असुर सम्राट वृषपर्वा की आज्ञा थी कि आचार्य कन्या देवयानी की सभी इच्छाएँ पूरी की जाँय।

देवयानी असुरों के आचार्य की एकलौती बेटी ही नहीं थी तीनों लोकों में परम सुन्दरी, और अपने इस परम सौन्दर्य तथा ऐश्वर्य का अभिमान करनेवाली एक हठीली कन्या थी। असुरों की तो बात ही क्या स्वयं आचार्य

शुक्र को भी उसके हठ के सामने शिर झुकाना पड़ता था और वह उचित या अनुचित जो कुछ भी चाहती थी उसकी पूर्ति होना ही निश्चित माना जाता था। देवयानी के गर्वीले तथा हठीले स्वभाव तथा उसके कारण आचार्य शुक्र की अवशता का पता बृहस्पति पुत्र कच को बहुत पहले ही से लग चुका था। इसलिए संजीवनी विद्या प्राप्त करने की कठिनाइयों की उसे कोई विशेष चिन्ता नहीं थी, चिन्ता यदि कोई थी तो इसी बात की कि वह देवयानी को किस प्रकार प्रसन्न करेगा।

शुक्राचार्य के आश्रम में उस समय देवताओं का प्रवेश निषिद्ध था। चारों ओर दुर्दान्त असुर सैनिकों की आंखों से बचकर कच का प्रवेश करना सुगम नहीं था। किन्तु कच को इस कार्य में तनिक भी कठिनाई नहीं हुई। असुर छात्रों जैसा वेश धारण कर वह सैनिकों के सामने से ही निर्भीक हो कर शुक्र के दुर्गम आश्रम में प्रविष्ट हो गया और प्रबुद्ध असुर सैनिकों को इसका पता भी नहीं लग सका।

× × ×

देवगुरु बृहस्पति के पुत्र कच का सुन्दर शरीर कामदेव का प्रतिद्वन्द्वी था। उसके तेजस्वी मुखमण्डल में ब्रह्मवर्चस का वह अनुपम तेज था कि अनायास ही लोग उसकी ओर आकृष्ट हो जाते। उसकी तेजस्वी आँखों में करुणा और प्रेम की ऐसी पयस्विनी बहती थी कि सामने देखने वाला थोड़ी ही देर में चाहे वह कठोर पुरुष ही क्यों न हो, अवश्य वश्य हो जाता। और उसकी विशाल भुजाएँ अनजाने को भी आलिंगन का निमन्त्रण देतीं। उसके विशाल वक्षस्थल और पृथुल कंधों को देखकर कायरों में भी वीरता का संचार हो जाता। जिधर से वह निकलता नवयुवक उसे अपना मित्र बनाने की लालसा करते, और प्रौढ़ों में वात्सल्य की भावना उमड़ पड़ती। उसकी विनयशीलता और तेजस्विता तो ऐसी थी कि पाषाण गुरु भी अपना हृदय समर्पित करने को विवश होता।

शुक्र के आश्रम में कच का प्रवेश एक अनहोनी घटना थी। उसका हृदय धड़क रहा था, आँखें चंचल थीं किन्तु प्रवेश के थोड़ी देर बाद

आश्रम के उद्यान में उसकी देवयानी से भेंट हो गई। कच से आँखें चार होते ही देवयानी सहम गई। अपने जीवन में उसने प्रथम बार अनुभव किया, जैसे उसके हृदय में कहीं से कम्पन हो रहा है और आँखें सामने की ओर अधिक देर तक अवलोकन करने में असमर्थ हैं। उसकी रोमावलि खड़ी हो गयी और थोड़ी देर तक उसके पैर जहाँ के तहाँ रुक गये। अपनी सहेलियों तथा दासियों की ओर देखकर वह और भी लज्जित हुई और इस प्रकार दर्शन मात्र से विचलित कर देने वाले कुमार कच की अपार सौंदर्य राशि पर वह अवश होकर मुग्ध हो गई। किन्तु प्रयत्न करने पर भी वह कुछ बोल नहीं सकी।

सुरों की आभिजात्य शालीनता ने कच को ऐसे कठिन अवसर पर और अधिक गम्भीर बना दिया। पराई युवती कन्या अथवा स्त्री से बातचीत करना उसके लिये यों ही सुखकर नहीं था, फिर पराये पुर में और चौर वेश में तो यह कार्य और भी संकटपूर्ण था। अपनी सहज गंभीरता से उस ओर बिना दृष्टिनिःक्षेप किए ही वह उद्यान मार्ग से दूर हटकर क्षितिज की ओर आँखें गड़ाकर खड़ा हो गया और तब तक खड़ा रहा जब तक देवयानी की सखियों तथा दासियों का रथ-समूह बहुत दूर तक नहीं निकल गया।

रथ की गति के साथ देवयानी के हृदय की गति भी बढ़ती गयी और कच को बारबार देखने के लिए उसका गर्व गलता गया, किन्तु सखियों और दासियों के सामने वह मुंह खोलती कैसे? लोक लज्जा की असह्य वेदना का बोझ लेकर उसकी बाहरी आँखें यद्यपि उसके शरीर के साथ थीं, किन्तु अन्तर्मन में कच की मोहिनी मूर्ति को बारबार देखने की उत्कट लालसा बढ़ती जा रही थी और उसकी भीतरी आँखें कच के अनिन्द्य और अनुपम सौन्दर्य का पान कर रही थीं। जीवन में प्रथम बार अनुभव की गयी अपनी इस नई पीड़ा का मर्म समझने में वह विफल हो गयी।

उद्यान-भ्रमण से वापस लौटकर देवयानी कच की मोहिनी मूर्ति को पुनः देखने की उत्कट लालसा में जब अत्यधिक बेचैन हो रही थी तब ठीक उसी समय उसने अपने पिता के पास विनीत भाव से खड़े हुए कच को

पुनः देखा। बटुवेश में कच के उस अनिन्द्य रूप को पुनः प्रत्यक्ष कर देवयानी धन्य हो उठी।

× × ×

सुरों एवं असुरों की उत्कट वैर-भावना के बीच भी आचार्य बृहस्पति और शुक्र के पारस्परिक सम्बन्ध कटु नहीं थे। एक के प्रति दूसरे के हृदय में अत्यधिक निष्ठा थी। इस स्थिति का लाभ कच को भी प्राप्त हुआ। न चाहते हुए भी शुक्र को अपने आश्रम में आए हुए कच के चौर-प्रवेश का रहस्य छिपाना ही पड़ा। वे चाहते तो थे कि किसी प्रकार कच को सकुशल वापस भेज दिया जाय किन्तु कुछ तो कच की विनय भरी प्रार्थनाओं का आग्रह और कुछ अपनी लाड़ली बेटी देवयानी का अनुरोध, उनको सफल नहीं कर सका। कच शुक्र के आश्रम का ही नहीं उनके परिवार का एक सदस्य बन गया और थोड़े ही दिनों में अपनी सेवापरायणता, विनयशीलता तथा आकर्षक व्यक्तित्व की मोहकता से उसने शुक्र को भी अपने ऊपर परम कृपालु बना लिया। देवयानी तो गृहस्वामिनी होते हुए भी उसके संकेतों पर नाचने वाली उसकी दासी बन गयी।

देवयानी की दिनचर्या कच की दिनचर्या बन गयी। दोनों एक दूसरे के पूरक बन गए। जहाँ जाते संग जाते, साथ रहते, साथ ही खाते पीते। देवयानी की सखियाँ और दासियाँ उदास हो उठीं। पुरजन-परिजनों में चर्चा खड़ी हो गयी किन्तु हठीली देवयानी को सब बचपन से ही जानते थे, किसी में साहस नहीं हुआ कि उसके या शुक्र के सामने कोई चर्चा होती। किन्तु इस अनवरत संगति एवं सहचारिता में भी देवगुरु का तेजस्वी पुत्र कच निर्विकार ही बना रहा। देवयानी की मोहिनी सौन्दर्य राशि की अग्नि के समान पूज्यभाव से ही वह आराधना करता रहा और कभी स्वप्न में भी उधर आकृष्ट नहीं हुआ।

उधर कच की सुन्दरता पर तन मन से विमुग्ध देवयानी की आकुलता असुरपुरी में चर्चा का विषय बन गयी। सखियों-सहेलियों की काना फूसी असुर सम्राट वृषपर्वा को चिन्तातुर करने लगी। अन्ततः मन्त्रियों और

सामन्तों की गूढ़ मन्त्रणाओं से प्रेरित गुप्तचरों ने भी जब कच और देवयानी के सतत सान्निध्य एवं कच के ऊपर आचार्य शुक्र के वात्सल्य की सविस्तार चर्चा की तो एक प्रकार से समस्त असुरपुरी ही विचलित हो गयी। सबको यह सन्देह होने लगा कि निश्चय ही कच और देवयानी के इस प्रेम-सन्दर्भ में कूटनीतिज्ञ देवराज इन्द्र की चालें ही सफल हो रही हैं।

निदान असुर गुप्तचारों ने गूढ़ मंत्रणा की और अपने अकल्याण के लिए उठते हुए देव-नक्षत्र को ग्रसने का षड्यन्त्र सफल कर लिया। कच प्रातः गुरु और गुरुपुत्री की सेवाओं से छुट्टी पाकर कुछ देर के लिए उनकी गौओं के चराने का भी कार्य करता था। इसी प्रसंग में एक दिन वह गौओं के साथ मध्यवन में जब तन-मन से दूर होकर मालती के कुंजों से उनकी प्रसन्नता का परिचय पूंछ रहा था तो भेड़ियों का रूप धारण कर असुरों ने उसके कमनीय कलेवर को फाड़ डाला और थोड़ी ही देर में हड्डियों को छोड़कर उसके शरीर के समस्त अवयवों को भी उदरस्थ कर लिया।

भास्कर की गिरती किरणें वृक्षों की चोटियों का सहारा लेकर पश्चिम के क्षितिज पर बैठने लगीं। सन्ध्या हो गयी। आचार्य शुक्र को रंभाती हुई गौएँ कच के बिना ही आश्रम को वापस पहुँचीं। वे सब की सब बहुत चंचल थीं और लम्बी सांसे छोड़ रही थीं। उनके नेत्रों से बहनेवाली अश्रु-धारा को देखते ही देवयानी को इस अमंगल की सूचना मिल गयी और वह कच के अनिष्ट की आशंका से आहत होकर गिर पड़ी। थोड़ी देर में जब उसे संज्ञा मिली तब पिता के समीप जाकर सिसकती हुई वेदना के असह्य बोझ से दबी वाणी में वह बोली—

—'मेरे तात! आपने अग्निहोत्र समाप्त कर लिया, भगवान भास्कर भी अस्ताचल को पहुँच गए। व्याकुल गौएँ बिना चरवाहे की वापस आ गयीं। किन्तु मेरा प्यारा कच अभी तक वापस नहीं आया। मुझे लग रहा है कि वह या तो मार डाला गया है अथवा उसे किसी ने बन्दी बना लिया है।......।

मैं सच कह रही हूँ मेरे तात! मैं अपने प्यारे कच के बिना क्षण भर भी जीवित नहीं रह सकूँगी। वह.........।'

बात अधूरी थी और देवयानी फिर संज्ञाहीन होकर गिरने ही वाली थी कि आचार्य ने दौड़कर उसे अपने अंक में थाम लिया। उसकी निश्चेष्ट मुद्रा से मर्माहत होकर शुक्र की आंखें भी सजल हो उठीं। क्रोध से दोनों नथुने फूल उठे, माथे पर पसीने की बूँदें छलकने लगीं और अनजाने में ही निचले ओंठ को दांतों से काटते हुए वह बोल पड़े...

—'बेटी! कच को मारने या बन्दी बनाने वाला मेरा शत्रु होगा। किन्तु क्या तुम्हें यह ज्ञात नहीं कि तुम्हारा बूढ़ा पिता यम की विकराल दाढ़ों को तोड़ने की शक्ति रखता है। त्रैलोक्य में किसी की ऐसी शक्ति है जो कच को मार सके या बन्दी बना सके। मैं उसे अभी बुला रहा हूँ। तुम उठ बैठो।'

देवयानी ने देखा, आचार्य आंखें मूँदकर किसी के ध्यान में निरत हैं और उनके मुख से निकलने वाली अस्फुट मन्त्र-ध्वनि वातावरण में निर्भयता एवं अमरत्व का सन्देश छोड़ रही है। उसकी आंखें निर्मल हो गयीं। मस्तिष्क और हृदय की पीड़ा शान्त हो गयी। उसने फिर देखा—सामने से रक्त में सना हुआ कच मुस्कराते हुए इसी ओर चला आ रहा है। कच को देखते ही देवयानी अपने को भूल गयी और दूर से ही दौड़कर उसके रक्त सिंचित अंगों का बिना कुछ ख्याल किए ही उससे लिपट गयी।

आचार्य के पूछने पर कच ने सारी घटना का यथातथ्य वर्णन किया। उसने यह भी बताया कि जब वह छद्मवेषधारी असुरों के पेट में था तब सम्राट वृषपर्वा ने उन असुरों का स्वयं अभिनन्दन किया था। किन्तु अभिनन्दन के स्थल पर ही उसे आचार्य की वाणी सुनाई पड़ी और वह उनके उदरों को चीर कर बाहर निकल पड़ा और वे सब के सब असुर सम्राट वृषपर्वा के सामने ही निष्प्राण हो कर गिर पड़े।

× × ×

इस दुर्घटना के अनन्तर देवयानी सतर्क रहने लगी। उसने उसी

दिन से कच को गौओं के साथ वन जाने से मना कर दिया और आश्रम के भीतर ही पूजा-पाठ की सामग्री के कार्यों में ही लगाए रखा। किन्तु समय बीतता गया और आशंकाएं शनैः-शनैः क्षीण होती गयीं। कच आश्रम के बाहर भी आने-जाने लगा और वन के तटवर्ती अंचलों में घूम फिर कर फल-पुष्पादि के चयन की अनुज्ञा भी उसे देवयानी से मिल गयी।

असुरों के हृदय में द्वेषाग्नि धधक रही थी। वे तो इस ताक में थे ही कि कब कच को सदा के लिए समाप्त कर दिया जाय। निदान जब एक दिन पुष्पचयन में आत्मविस्मृत कच भ्रमरों की गुनगुनाहट को अपने स्वरों में बाँध रहा था कि असुरों ने उसे एक ही प्रहार में समाप्त कर दिया और इधर-उधर से काष्ठ संचय कर उसके मृत शरीर को जलाकर क्षार कर डाला। उस क्षार को भी वे वहाँ से उठा ले गए और आचार्य शुक्र को दी जाने वाली मदिरा में मिश्रित कर उसे स्वयं आचार्य शुक्र के उदर में पहुँचा दिया। यह सारी घटना दिन भर के भीतर ही घटित हो गयी और देवयानी तथा शुक्र को इसका कुछ भी संकेत नहीं मिला।

दिन बीत गया। सन्ध्या आयी। दिन भर की दुःखद प्रतीक्षा के अनन्तर जब देवयानी को बहुत ढूँढ़ने पर भी कच दिखाई नहीं पड़ा तो वह नितान्त व्याकुल हो गयी। आश्रम के उपवन और कुंजों में कच को पुकार-पुकार कर जब वह थक गयी तो रोती हुई अपने पिता के पास पुनः पहुँची। आचार्य सायं सन्ध्या में ध्यान मग्न थे। अग्निहोत्र की पावन धूमराजि बाहर से आते हुए अंधेरे को और भी सघन कर रही थी। आश्रम में नीरवता का साम्राज्य था। इस अनुकूल परिस्थिति में पड़कर देवयानी की निराशा और आकुलता और भी घनीभूत हो गयी। उसके हृदय और मस्तिष्क में प्रकाश और प्रसन्नता की क्षीण रेखा भी नहीं रह गयी। उसे अनुभव हुआ, धूएँ की कड़ुवाहट से उसकी सांसें अवरुद्ध हो रही हैं और मस्तिष्क का अंधकार उसकी आंखों को ज्योतिहीन कर रहा है। अपने हृदय में बसे हुए कच को स्मरण करती हुई वह पिता के कमण्डलु के पास धमाक से गिर पड़ी।

शुक्र ने देखा, देवयानी की आँखें पथरा रही हैं, मुख फेनिल हो रहा है, शरीर पीला पड़ता जा रहा है और श्वासक्रिया अवरुद्ध सी हो रही है। अपनी एकलौती बेटी की इस दयनीय दशा ने उन्हें विचलित कर दिया, वे झट उठ खड़े हुए और कमण्डलु के जल से मंत्राभिषेचन करते हुए बोले—'देवयानी! मेरी पुत्री होकर साधारण लोगों की तरह इस प्रकार बारबार तुम्हारा संज्ञाहीन होना शोभा नहीं दे रहा है। बेटी! उठो, देखो तो।'

मंत्राभिषिक्त जल के शीतल शीकरों से उच्छ्वसित देवयानी पिता के उपालम्भों से प्रेरित होकर उठ बैठी। उसके शरीर का अवसाद दूर हो गया, नेत्र ज्योतिष्क हो गये, हृदय आश्वस्त हो उठा और लज्जा से आरक्त मुखमण्डल पूर्णिमा के सायंकालिक चन्द्रमा को विनिन्दित करने लगा। थोड़ी देर तक निस्तब्ध रहने के अनन्तर उसने हाथ जोड़कर कहा—'मेरे पूज्य तात! मेरे प्यारे कच का फिर कुछ पता नहीं लग रहा है? वह सबेरे ही मुझसे पूछकर पुष्पचयन के लिए गया था, किन्तु रात्रि हो गयी अभी तक नहीं लौटा। निश्चय ही उसे या तो आपके शिष्यों ने पुनः मार डाला या वह स्वयमेव किसी नई विपदा में फँसा हुआ है। मैं आपसे सच-सच कह रही हूँ मेरे तात! मैं कच के विना इस संसार में जीवत नहीं रह सकती।'

शुक्राचार्य थोड़ी देर तक चुप रहे। फिर धीर-गम्भीर वाणी में बोले—'बेटी देवयानी! बृहस्पति का पुत्र कच प्रेतयोनि में पहुँच चुका है। अब संजीवनी विद्या द्वारा जीवित कर देने पर भी वह इसी प्रकार पुनः मारा जायगा। तो अब मैं क्या करूँ?'

देवयानी बीच में ही सिसकती हुई बोल पड़ी—'पूज्य तात! आपके लिए मेरी बुद्धि में इस संसार में कुछ भी दुर्गम नहीं है। मुझे आश्चर्य हो रहा है कि आप अपने पूज्य आचार्य अंगिरा के पौत्र और परम सखा बृहस्पति के पुत्र कच की इस दुर्गति पर विचलित नहीं हो रहे हैं। जो हो, मैं तो कच को देखे बिना जल भी नहीं ग्रहण करूँगी।'

शुक्र चिन्तातुर स्वर में कुछ रोष के साथ बीच में ही बोल पड़े—'देवयानी! कच के लिए तुम्हारा इस प्रकार शोकाकुल होना ही मेरे आश्चर्य की बात है। तुम्हारे समान सर्वशक्ति सम्पन्न पिता की एकलौती एवं लाडली बेटी को एक मरणधर्मा मनुष्य के लिए इतना शोकाकुल होना अनुचित है। देखो न! मेरे तप के प्रभाव से स्वयं ब्रह्मादि त्रिदेव, देवराज इन्द्र, आठों वसु, दोनों अश्विनीकुमार, सभी दानव गण—इतना ही क्यों यह समस्त चराचर जगत तुम्हारे अधीन है। ये सब तुम जब चाहो तब तुम्हारी सेवा में उपस्थित हो सकते हैं। तब फिर तुम एक निःसहाय ब्राह्मण कुमार कच के लिए क्यों इतनी परेशान हो? मैं यदि उसे एक बार पुनः जीवित कर दूँगा तो वह क्षीणपुण्य होने के कारण फिर से भी ऐसी ही दुर्गति प्राप्त करेगा। तुम्हीं बताओ, इस प्रकार के बारम्बार के व्यर्थ कार्य-व्यापार में क्यों अपनी साधना की शक्ति को क्षीण किया जाय?'

देवयानी से नहीं रहा गया। वह लाडली तो थी ही, पिता की उपेक्षा भरी वाणी ने उसे उत्तेजित कर दिया। दोनों हथेलियों से अपने शिर को पीटती हुई वह बोली—'पिता जी! मैं अब आपसे विवाद नहीं करना चाहती, किन्तु मैंने यह निश्चय कर लिया है कि कच के बिना मैं इस धरती पर नहीं रहूँगी। जिस प्रेत योनि में कच को गति मिली है, वही मेरी भी शरण बनेगी।'

देवयानी के दुराग्रह और क्रोध के साथ आचार्य शुक्र का पुराना परिचय था। वे जान गए कि अब कच को फिर से जीवन-दान करना ही होगा। सान्त्वना भरी वाणी में बोले—'बेटी! तेरे लिए मैं अपनी साधना की समस्त पूँजी व्यय कर सकता हूँ। शान्त रहो, मैं कच को फिर बुलाता हूँ। किन्तु मैं अब यह जान गया हूँ कि असुरों की इस पुरी में और अधिक दिनों तक मेरा निवास संभव नहीं है। क्योंकि वे मेरे साथ भी अब द्वेष करने लगे हैं। कच को इस दुर्गति में पहुँचाकर उन्होंने मुझे अपना विरोधी बना लिया है अस्तु।'

क्रोध से जलते हुए शुक्र की आँखों से आँसुओं की बूँदें टपकने

लगीं, ओंठ फड़कने लगे और दोनों पैर अपने आप ही धरती पर पटक उठे। थोड़ी देर तक ध्यानावस्थित रहकर उन्होंने कच का आवाहन किया। इस बार उन्हीं के उदर से ही कच की क्षीण वाणी सुनाई पड़ी। देवयानी के नेत्र विस्फारित हो गए। अपनी जीभ को दाँतों से काटते हुए वह बोल पड़ी—'पिता जी! कच तो आपके ही उदर में अवस्थित है।'

शुक्र विचलित हो उठे, किन्तु अपनी धीरता को स्थिर रखने का प्रयत्न करते हुए बोले—'वत्स! बताओ, तुम मेरी उदरस्थली में कैसे अवस्थित हो गए हो।'

कच की वाणी भीतर से सुनाई पड़ी। 'गुरुदेव! आप की कृपा से मुझे अभी तक मेरी स्मृति ने नहीं छोड़ा है। सारी घटना मुझे याद है। आचार्य! असुरों ने मुझे मारकर, जलाकर क्षार कर दिया और फिर उसी को मदिरा में मिलाकर आपको पिला दिया है। आचार्य! अब भी मैं आपकी ही शरण में हूँ, किन्तु मुझे आश्चर्य है कि आपकी कृपा का भाजन होते हुए भी ये असुरगण मेरी क्यों ऐसी दुर्गति कर रहे हैं?'

आचार्य स्तम्भित थे और देवयानी चेतनाविहीन होती जा रही थी। शुक्र बोले—'बेटी! अब तो कच ऐसे स्थल पर पहुँचा दिया गया है, जहाँ से मेरी मृत्यु के बाद ही वह तुम्हें प्राप्त हो सकता है। किन्तु मेरी मृत्यु हो जाने के बाद भी वह सदा के लिए जीवित नहीं रह सकता, क्योंकि असुरों के संस्पर्श एवं दो-दो बार मृत्यु के आलिंगन से उसका पुण्य क्षीण हो चुका है। इस प्रकार एक बार और जीवित कर दिए जाने पर भी उसे असुर पुनः मार डालेंगे। अब तुम्हीं बताओ मैं क्या करूँ?'

देवयानी अवसन्न थी। किसी प्रकार अपने को सँभालकर बोली—'तात! अग्नि के समान जलाने वाले ये दोनों ही शोक मेरी मृत्यु के कारण हैं। आप का न रहना और कच से पुनः भेंट न होना—ये दोनों ही स्थितियाँ मेरे लिए असह्य हैं। मैं हतभागिनी हूँ। आपको मैंने जन्म से ही बहुत कष्ट दिया है। मेरा जीवन ही इसीलिए था। अब मैं आपसे विदा ले

रही हूँ, क्योंकि इस भारी विपदा के बोझ को लेकर मैं अपने जीवन का मार्ग नहीं तय कर सकूँगी।'

शुक्राचार्य ने उठकर देवयानी को अपने अंकों में लगा लिया। वात्सल्य के उद्रेक से उनकी आँखें सजल हो उठीं, हृदय में करुणा प्रस्फुटित हो गयी। उसके शिर को सहलाते हुए प्यार से बोझिल वाणी में वे बोले—'देवयानी! मैं तुम्हारे लिए त्रैलोक्य को उलटने की शक्ति रखता हूँ। जब तक मुझमें संजीवनी विद्या की शक्ति है, संसार में कोई भी कार्य दुष्कर क्यों होगा?'

देवयानी निहाल हो उठी। प्रसन्नता से उसकी आँखें चमक उठीं। पिता के इस अनुपम स्नेह-दान से गद्गद होकर वह पुलकित हो उठी। उसने प्रथम बार यह अनुभव किया कि सचमुच त्रैलोक्य में उसके समान भाग्यशाली कोई कन्या नहीं है।

अपने तुन्दिल पेट को सहलाते हुए प्यार भरी वाणी में आचार्य शुक्र पुनः बोले—'बेटा कच! तुम सचमुच बड़े भाग्यशाली और यथार्थ तपस्वी हो, जो देवयानी का इतना अपार प्रेम तुझे प्राप्त हुआ है। तुम्हारी निष्कपट सेवा एवं साधुता ने मेरे हृदय को जीत लिया है। यद्यपि तुम संजीवनी विद्या की प्राप्ति के लिए मेरे आश्रम में आए थे, तथापि कभी अपनी वाणी से उसकी चर्चा भी तुमने नहीं की थी। आज वह संजीवनी विद्या स्वयमेव तुम्हें प्राप्त होने जा रही है। तुम उसके उपयुक्त पात्र हो, अतः उसे प्राप्त करो। किन्तु इसे प्राप्त करने के अनन्तर तुम्हें दो कार्य करने होंगे। प्रथम तो यह कि धरती पर पैर रखते ही मुझे जीवित बना देना और द्वितीय यह कि इस दुर्लभ विद्या का प्रयोग यत्र-तत्र न करना। अपने जीवन में एक व्यक्ति—केवल एक व्यक्ति को ही तुम इसे दे सकते हो।'

कच की मन्द वाणी सुनाई पड़ी। वह कह रहा था—'पूज्य गुरुदेव! आपकी जैसी आज्ञा होगी, मैं वैसा ही करूँगा।'

मंत्र-प्रयोग के साथ ही कच शुक्र की उदरस्थली को फाड़ कर बाहर निकला और उसके निकलने के पूर्व ही देवयानी अपने आराध्य पिता की यह दयनीय स्थिति देखकर उच्च-स्वर में विलाप करने लगी।

किन्तु साथ ही साथ रोष भरे स्वर में षड़यन्त्रकारी असुरों का अमंगल मनाते हुए वह दुर्वचनों का बाण भी छोड़ने लगी।

कच ने बाहर आते ही अपनी उस अमोघ विद्या का प्रथम प्रयोग किया। मन्त्रोच्चारण करते ही आचार्य का मृत शरीर पूर्ववत् प्रबुद्ध हो गया, किन्तु उदर फटने की असह्य वेदना का अनुभव उन्हें अब भी हो रहा था। खड़े होते ही उन्होंने कच को गले से लगा लिया और उसे आशीर्वाद भी दिया। किन्तु अपने षड्यन्त्रकारी शिष्यों के विनाश का शाप देते हुए उनके मुख से यह बात भी निकल पड़ी।

'जो कोई मन्दबुद्धि ब्राह्मण आज से मदिरा पान करेगा वह इस लोक में अपुण्य का भागी बनकर ब्रह्म हत्यारे के समान पापी और कंलकी होगा। उसे सिद्धि नहीं मिलेगी और उसका पुनर्जन्म भी गर्हित होगा।'

× + × ×

दुर्लभ संजीवनी विद्या की प्राप्ति करते ही कच का ब्रह्मवर्चस् ग्रीष्म-ऋतु के भास्कर की भाँति चमक उठा। उसने अनुभव किया, अब सचमुच संसार में किसी भी वस्तु की आकांक्षा उसे नहीं है। अपार सन्तोष की सुखद शीतल छाया में उसके सभी ताप-सन्ताप जाने कहाँ चले गए हैं। न किसी के प्रति उसमें रोष शेष है, न राग है। आन्तरिक पूर्णता की जिस अटूट साधना में वह यौवन के आरम्भ से ही निरत रहा है उसकी प्राप्ति भी इस संजीवनी विद्या के द्वारा उसे अनायास ही हो गयी, ऐसा वह मानने लगा। उसने सर्वप्रथम बार देखा कि आचार्य शुक्र कितने महान् और कितने परोपकारी हैं किन्तु आचार्य के इस दुर्लभ प्रसाद की प्राप्ति का स्मरण करते ही उसे देवयानी के छलकते हुए स्नेह की पवित्र स्मृति हुई। अपार कृतज्ञता से बोझिल होकर उसने यह भी सोंचा कि सचमुच यदि देवयानी उसकी इतनी सहायता न करती तो इस अनुपम विद्या की प्राप्ति तो दूर उसे अपने जीवन की भी प्राप्ति क्यों कर होती? आचार्य की इस अपार कृपा को प्राप्त करने का सुयोग तो देवयानी का ही रचा हुआ है। कितनी निष्कपट, कितनी दयावती, कितनी परोपकारिणी और कितनी

सहृदया है वह देवयानी। उसके महान् उपकारों का लेखा लगाने की शक्ति भी तो उसके पास नहीं है, प्रत्युपकार तो भला वह क्या कर सकता है ?

अमोघ संजीवनी विद्या की शक्ति से अजेय कुमार कच के प्रति देवयानी का सकारण प्रेम और भी घनीभूत हो गया। जिस दुर्दमनीय इच्छा का अंकुर उसके हृदय में कच के प्रथम दर्शन के दिन से ही जमा था, वह अब पल्लवित होकर पुष्प एवं फल के योग्य बन गया था। उसने सोचा उसके अद्वितीय पिता की भाँति ही उसका पति भी संसार का एक बेजोड़ महापुरुष होगा। अब उसे किस बात की कमी है। देवताओं के गुरु आचार्य बृहस्पति उसके श्वसुर होंगे और भरी दिवसभा में देवराज इन्द्र का अभिनन्दन प्राप्त करने का संयोग उसे प्रतिदिन मिला करेगा। इन उपद्रवप्रिय असुरों का विनाश अब समीप है, वह अपने पति के साथ देव-जाति के कल्याण साधन में इस प्रकार से लग जायगी कि थोड़े ही दिनों में आततायी असुरों का चिह्न भी धरती से लुप्त हो जायगा। संसार कितना सुखी होगा, जब दिग-दिगन्त में देवजाति की विजय-दुन्दुभी बजने लगेगी। उसने यह निश्चय किया कि अब उसे कच से अपना रहस्य नहीं छिपाना चाहिए, क्योंकि सन्तोष एवं मर्यादा की भी तो कोई सीमा होनी ही चाहिए।

जिस समय कच अपने भावी कार्यक्रम की मनोरचना में देवयानी के महान् उपकारों का स्मरण कर रहा था। ठीक उसी समय देवयानी वहाँ आकर स्वयमेव उपस्थित हो गयी। कच ने शीघ्रता से उठकर उसका सदा की भाँति चरणस्पर्श किया और उसके उपकारों का आभार प्रकट करना ही चाहता था कि देवयानी की आतुरता और प्रसन्नता ने उसे बोलने के लिये विवश कर दिया। अपने को कच के अंकों में समर्पित करने की जिस उद्दाम लालसा का संवरण देवयानी ने इतने दिनों तक कर रखा था, वह भी वश के बाहर की चीज बन गयी। कच को अपने भूखे अंक में भर कर गाढ़ आलिंगन का सुख अनुभव करती हुई वह गद्‌गद् वाणी में बोली—

'मेरे प्यारे कच ! क्या तुम अब भी अबोध कुमार ही बने रहोगे ? मेरी साधना क्या अब भी अधूरी रहेगी ? मैं तो चाहती हूँ कि उसकी भी परिसमाप्ति आज की इस पुण्य बेला में हो जाय। देखो, ऊपर आकाश में चन्द्रमा कितना प्रसन्न है। नीचे दुग्धस्नात धरती का कण-कण कितना आह्लादित है, द्रम-पल्लवों की मोहक ध्वनि में कैसा स्वर्गीय संगीत है और वायु के शीतल मन्द सुगन्धित झकोरे हमारे पवित्र प्रेम की भाँति ही कितने उन्मद हैं। हमारे समर्पण और अंगीकार की यह मधुर बेला सचमुच कितनी शुभ है, कितनी शिव है। आओ, हम पूज्य पिता के समीप चलें और चिरकाल से संजोए अपने मनोरथ को उनके मंगलमय आशीर्वाद से सफल करें।'

कच को देवयानी के कोमल अंगों के स्पर्श से विद्युत्संस्पर्श के समान विचित्र झटका लगा। मंगल में अमंगल की इस अकाण्ड रचना के लिए वह कभी तैयार नहीं था। देवयानी की कामार्त्त वाणी का उस पर वैसा ही प्रभाव हुआ जैसे किसी वेदान्ती पर काव्यानन्द का। वह देवयानी के अंक पाश से हठात् निकल कर किंचित् दूर जाकर खड़ा हुआ और हाथ जोड़ तथा घुटने टेक कर विनय भरे स्वर में बोला—

'पूज्य गुरुपुत्री ! आप मेरे लिए आचार्य शुक्र की भाँति ही आराध्य हैं। मैंने सदा आपको पूज्यबुद्धि से ही देखा है अतः किसी अन्य प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं कर सकता। मेरे लिए आचार्य में और आप में कोई भी अन्तर नहीं है। आप ही सोचें, गुरुपुत्री के साथ ऐसे सम्बन्ध की स्थापना का कहीं कोई विधान भी है ? शास्त्र की आज्ञा तो यही है कि 'गुरुवद्गुरुसन्ततिष्वपि वर्तितव्यम्।' (गुरु के समान ही गुरु की सन्तति के साथ भी आचरण करना चाहिए)

देवयानी हतप्रभ हो गयी। उसकी आँखों का नशा उतर गया और क्षणभर में ही पर्वत शिखर से गिरे हुए कन्दुक की भांति संभलकर वह फिर प्रकृतिस्थ होकर बोली—

'कच ! तुम हमारे गुरुपुत्र बृहस्पति के पुत्र हो। हमारे साथ तुम्हारा

सम्बन्ध हो सकता है। इसमें शास्त्रों अथवा गुरुजनों की ओर से जो भी बाधा आएगी, मैं सबका सामना करूंगी। क्या तुम यह नहीं जानते कि मैं तुम्हें अपने प्राणों से भी बढ़कर प्यार करती हूँ। कदाचित् त्रैलोक्य में भी मेरे समान प्रीति करने वाली कोई दूसरी स्त्री तुम्हें नहीं मिलेगी। मुझमें क्या कमी है जो तुम इस प्रकार से मेरा अपमान ही नहीं कर रहे हो वरन् मेरी चिर आकांक्षाओं को ध्वस्त कर रहे हो। मैं तुम्हारे द्वारा अपमानित होकर इस धरती पर पुनः जीवित नहीं रह सकूँगी मेरे प्रियतम!'

देवयानी की इस कामार्त्त वाणी का भी कच के हृदय पर कुछ प्रभाव नहीं पड़ा। थोड़ी देर चुप रहकर वह विनय भरे स्वर में फिर बोला—

'आर्ये! शुभव्रते! आप एक अत्यन्त निन्दनीय कार्य को पूरा करने की आज्ञा मुझे दे रही हैं, मैं उसका पालन नहीं कर सकता। कल्याणि! मुझ पर कृपा करें। आप ही सोचें, आचार्य के जिस शरीर से आपकी उत्पत्ति हुई है, उसी की कुक्षि में मैं भी निवास कर चुका हूँ। इस प्रकार से तो आप मेरी सहोदरा भगिनी भी होती हैं। मैं जानता हूँ, मेरे लिए आपके हृदय में कितनी प्रीति है, किन्तु क्या एक बहिन अपने भाई के प्रति उतनी प्रीति नहीं रख सकती? मैं तो सर्वदा आपको एक पूज्य बहिन की दृष्टि से ही देखता रहा हूँ। मेरी प्रार्थना है कि आप मुझसे पुनः ऐसी बातें न कहें और हृदय से आशीर्वाद दें कि मेरा जीवन सुखी हो। मेरी विद्या फलवती हो। मैं जीवन भर के लिए आपका ऋणी हूँ, जब कभी मेरी सेवाओं की आवश्यकता पड़ेगी मैं स्मरण करते ही आकर उपस्थित हो जाऊंगा।'

देवयानी का रहा सहा धैर्य नष्ट हो गया। उसकी सुन्दर भ्रुकुटि कुटिल हो गई। ललाम नेत्र द्वेषबुद्धि का उदय होते ही कलुषित दिखने लगे और चन्द्रानन की सहज प्रसन्नता जाने कहाँ विलीन हो गई। अमर्ष के नेत्रजल बरबस ही चू-चू कर क्रोध से रक्तिम कपोलों का सिंचन करने लगे। कण्ठ अवरुद्ध हो गया और अन्तर की असह्य ज्वाला से दग्ध होकर वह सर्पिणी की भांति दीर्घ निःश्वासें छोड़ने लगी। कच को भावी अनर्थ की यह भूमिका समझने में देर नहीं लगी किन्तु वह अपनी मान्यताओं पर

राजधानी इन दोनों लाड़ली कन्याओं की ईर्ष्या और द्वेषमूलक अभिमान की अग्नि में धीरे-धीरे जल रही थी।

आचार्य शुक्र वृषपर्वा के राजभवनों से दूर एक आश्रम में रहते थे। देवयानी की ऐषणाओं से उनका आश्रम राजसी समृद्धियों का एक जीवन्त संग्रहालय था। त्रैलोक्य की कोई भी दुर्लभ वस्तु शुक्र के आश्रम में किसी भी क्षण मंगाई जा सकती थी। शर्मिष्ठा आचार्य शुक्र की लाड़ली देवयानी के इस गर्वीले एवं बढ़े-चढ़े स्वभाव की चर्चा जब कभी सुनती तब दांत पीस कर रह जाती। उसके अखर्वित हृदय को इससे एक कठोर धक्का लगता। वह सोचती—मेरा यह सारा वैभव-विलास देवयानी को कुण्ठित किए बिना व्यर्थ है। मेरा असुर सम्राट की कन्या होना तब तक निरर्थक है, जब तक उस ब्राह्मण की गर्वीली कन्या (देवयानी) को अपमानित न किया जाय। दुर्भाग्यवश स्त्रियों के भावुक हृदय में ईर्ष्या की अग्नि बहुत शीघ्र ही सुलग उठती है। शर्मिष्ठा को देवयानी के नाम से ही घृणा हो गयी थी।

बृहस्पति पुत्र कच[1] के शुक्राचार्य द्वारा संजीवनी विद्या प्राप्त कर अमरावती वापस आने के बाद से ही देवराज इन्द्र के ईर्ष्यालु हृदय में असुरों के विनाश की चिन्ता अधिक बढ़ गई थी। वह ऐसा प्रसंग ढूंढ़ ही रहे थे कि असुरों से अपने पुराने वैर का निर्यातन किस प्रकार लिया जाय। किन्तु शुक्रपुत्री देवयानी के काम-शाप से दग्ध कच की संजीवनी विद्या अपने आप में निरर्थक बन चुकी थी और इस प्रकार सुरों में वह संजीवनी विद्या आकर भी निष्प्रभाव बनी हुई थी। देवराज इस तथ्य से भी चिन्तातुर थे। आखिरकार उन्होंने एक दूसरा ही उपाय निकाल लिया। असुरों की राजधानी में देवयानी और शर्मिष्ठा के बीच चलने वाले इस गूढ़ कलह की भनक उनके सतर्क कानों में पड़ चुकी थी। निदान एक दिन जब किसी पुण्य पर्व पर असुर कन्याएं अपने क्रीड़ा उद्यान के मनोहर तड़ाग की निर्मल जलराशि में स्वच्छन्द संतरण कर

१—कच और देवयानी की कथा पहले दी जा चुकी है।

रही थीं तब देवराज की अवसर ढूंढ़ने वाली सहस्र आँखों को अपना स्वार्थ सिद्ध करने की अनुकूलता दिखाई पड़ गई। उन्होंने चंचल मरुत्वान को अपने गूढ़ संकेतों से आगे का सब कार्यक्रम बता कर स्वयमेव छद्मवेश में असुर राजधानी में प्रवेश किया।

चंचल असुर-राजपरिवार की कन्याएं उस सरोवर में परस्पर जल शीकरों के प्रक्षेप से हास-परिहास में निमग्न थीं। उनकी दासियां भी विश्रब्ध भाव से उनके आमोद का वर्धन करने के लिए उनके चारों ओर क्रीडा का निमित्त बनी हुई थीं। सरोवर के मणिमंडित सोपानों पर अन्तः पुर की भाँति रास-रंग के साधनों का हट्ट-सा सजा हुआ था। उनके रङ्ग-बिरंगे कौशेय वस्त्रों और कंचुकों को भी दासियों ने वहीं रख छोड़ा था। भावी अनर्थ की गूढ़ दुर्घटना की छाया भी वहाँ नहीं थी, फिर उन विश्रब्ध दासियों को दोष क्यों दिया जा सकता था? वे अपनी आराध्य राजकन्याओं के पार्श्व में तो क्रीड़ा-निमग्न थीं ही।

ऐसा अनुकूल अवसर देख मरुत्वान् ने क्षण भर में ही वात्याचक्र (बवंडर) का भीषण रूप धारण किया। सरोवर के तटवर्ती चन्दन और अगुरु वृक्षों के स्कंधों को झंझोड़ कर उसने हरित किशलयों के स्तवकों को भी धरासात् कर दिया। योजनातिदूर उद्यान की रेणु राशि को एकत्र कर समीपवर्ती द्रुम-दलों के सहकार से उसने ऐसा वर्तुलाकार रूप धारण किया कि क्षण भर में ही क्रीड़ा-सरोवर की नीली जलराशि अति विक्षुब्ध हो गयी। लोल तरङ्गों के तरल आघातों से न केवल उसका ऊपरी भाग ही आविल हुआ वरन् निम्न भाग में क्रीडा-निरत राजकन्याओं के कंचुक और अन्तरीय परिधान भी मलिन होकर खसखसाने लगे। उनकी पुष्प-स्तवकों से गुंफित एवं सुगंधित कबरी मंत्ररुद्ध सर्पिणी की भांति अनेक प्रकम्पनों से युक्त होकर विलुलित हो उठी। देर की जलक्रीड़ा से आरक्त असुर-कन्याओं के मनोरम नेत्रों में धरती के उन पददलित कणों ने पीड़ा पहुँचाना शुरू कर दिया और क्षण भर पूर्व उनका जो मुख-सौन्दर्य पूर्णिमा के चन्द्रमा को भी चुनौती देने जा रहा था वह कुम्हार के आंवे से सद्यः निकले हुए कलश के पृष्ठभाग की

भांति रेणु-विमंडित हो गया। असुर-कन्याएं संत्रस्त होकर अपनी दासियों के अंगों से लिपट गईं। क्षणभर पूर्व क्रीड़ा और विलास की चपल लहरें जहां तरङ्गायमान थीं, वहीं आतंक की घनघोर घटा घिर आई। फिर तो उन मुग्धाओं में से किसी की बुद्धि में भी यह नहीं आया कि असुरेन्द्र वृषपर्वा की अभेद्य राजधानी में यह अकाण्ड ताण्डव आज कैसे घटित हो गया? सब की सब अवसन्न थीं। भयविह्वल थीं।

थोड़ी ही देर में वह महान् विप्लव अपने आप शान्त हो गया। प्रकृति की सुषमा शनैः शनैः अपनी पूर्व स्थिति को आने लगी। असुरपुर की वे समस्त राज कन्याएँ क्रीड़ा-सरोवर से निकल-निकल कर अपनी दासियों के साथ मणिमण्डित सोपानों पर आकर खड़ी हो गयीं। उनकी शरीरयष्टि देर तक की जलक्रीड़ा और तदनन्तर घटित इस दुर्घटना से अब भी नितान्त कम्पित थी। उनके विशाल कातर नयन मृगया-रव से उपद्रुत मृगी के नयनों की भाँति अब भी अति चंचल थे। वे चकित नेत्रों से इधर-उधर देख रही थीं कि यह भयंकर उपद्रव अकस्मात् कहाँ से घटित हो गया?

चतुर दासियों ने देखा, उनकी स्वामिनियों के सारे वस्त्र वायु के प्रबल वेग से उड़-उड़ कर एक दूसरे से ऐसे मिल जुल गए हैं कि उनका पहचानना भी कठिन हो रहा है। किसी प्रकार एक दूसरी की सहायता से वे अपने कर्त्तव्य में सफल हुईं और नूतन वस्त्रों एवं प्रसाधनों से उन भय-विह्वल राजकन्याओं के सजाने में लग गयीं।

असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा तथा आचार्य शुक्र की कन्या देवयानी के समस्त वस्त्रालङ्करण एक ही प्रकार के थे। किन्तु अन्य राज-कन्याओं से विशिष्ट थे। दैवदुर्विपाक से देवयानी की चतुर दासियों ने शर्मिष्ठा के वस्त्रों से ही अपनी आराध्या देवयानी का शृङ्गार किया और शर्मिष्ठा की अनुभवी अनुचरियों को भी देवयानी के वस्त्रों में कोई भ्रम नहीं हुआ। उन्होंने भी देवयानी के वस्त्रों से ही शर्मिष्ठा का शृङ्गार कर दिया। कौतुकी मरुत्वान् ने इसी दुर्योग के लिए यह सब कुकृत्य सम्पादित किया था।

उसकी अभिलाषा पूर्ण हो गयी और देवराज इन्द्र उत्कण्ठित मन से आगे आने वाली दुर्घटना के प्रति उत्कण्ठित हो गए।

अभिमानिनी शर्मिष्ठा देवयानी से बदला चुकाने के लिए प्रतिक्षण उपाय सोचती रहती थी। शृङ्गार-प्रसाधन के क्षणभर बाद ही उसे अकस्मात् यह ज्ञात हो गया कि उसने जो वस्त्र पहन कर रखे हैं उनमें आचार्य शुक्र के आशीर्वादों के चन्दन लगे हुए हैं। एक सम्राट् की एकलौती कन्या के वस्त्रों में ब्राह्मणोचित चन्दन का लगना उसकी दृष्टि में हीनता का द्योतक था। वस्त्रों पर निरीह भाव से पड़े हुये शुक्राचार्य के अमोघ आशीर्वाद से अभिषिक्त चन्दन के वे शीतल शीकर अग्नि-स्फुलिङ्गों की भाँति उसके शरीर और हृदय को जलाने लगे। वह अत्यन्त विक्षुब्ध होकर काँपने लगी। उसकी विशाल एवं मनोहर आँखें अंगारों की भाँति रक्ताभ होकर भयङ्कर हो उठीं और सुधावर्षिणी वाणी विष का प्रवाह ढूँढ़ने के लिए विह्वल हो उठी। अपनी दासी का शिर पकड़कर उसने ऐसे वेग से झटका कि उस बेचारी को धरती का अवलम्ब ही काम आया। समस्त राजकन्याएँ भय-विह्वल होकर शर्मिष्ठा की ओर आँखें बन्द करके खड़ी हो गयीं। केवल देवयानी अपने ईषत् हास्य से शर्मिष्ठा को उत्तेजित करती हुई बोल पड़ी—

—'शर्मिष्ठे! उस बेचारी दासी को इस प्रकार का अपमानपूर्ण दण्ड देना क्या एक सम्राट् की कन्या के लिए उचित है?'

शर्मिष्ठा का क्रोध अपार वेग से उसे आक्रान्त कर चुका था। देवयानी के व्यङ्ग और हास्य ने उसे अधिक विचलित कर दिया। वायुमण्डल में विषवर्षा करती हुई वह गरज उठी—

'ब्राह्मण पुत्री! आज तू अपने किये का फल भोगकर ही मुक्त हो सकेगी। तुझे आज ज्ञात हो जायगा कि सम्राट की कन्या की बराबरी करने में क्या-क्या व्याधियाँ उठानी पड़ती हैं। भिक्षुकी! तूने मेरे नूतन वस्त्रों को क्यों पहन लिया है? क्या तुझे यह भी ज्ञात नहीं है कि सम्राट् की कन्या का नूतन वस्त्र चुराने वाली किस यातना में डाली जाती है?'

देवयानी अविचलित थी। शर्मिष्ठा के वाग्बाणों से विद्ध होने पर

भी आज वह क्यों शान्त थी, इसे उसके सिवा कोई नहीं जान सका। अपने मन्दहास्य की चन्द्रिका से शर्मिष्ठा के विष को शान्त करने का विफल प्रयत्न करती हुई वह मधुर स्वर में फिर बोल पड़ी—

—'शर्मिष्ठे! एक ही साँस में इतनी गालियाँ बकनेवाली को यदि कोई सम्राट-कन्या की संज्ञा से सम्बोधित करता है तो यह न केवल "सम्राट् कन्या' शब्द का ही अपमान है वरन् प्रयोक्ता की बुद्धिहीनता का भी प्रमाण है। मेरे पूज्य पिता के प्रसाद से त्रैलोक्य की भला कौन-सी ऐसी वस्तु है जिसके लिये मैं चोरी जैसे पाप कर्म से लिए उद्यत होऊँगी। मैं मानती हूँ कि अभिमान ने तुम्हारे मस्तिष्क को विकृत कर दिया है और तुम्हारे ऐसे ही कर्मों द्वारा समूची असुरजाति का अकल्याण समीप आ रहा है।'

देवयानी की इस धीर-गंभीर वाणी को सहन करने की क्षमता शर्मिष्ठा में कहाँ थी? अपनी प्रचण्ड दासियों को ललकारती हुई वह देवयानी के ऊपर सिंहिनी की भाँति झपट पड़ी।

फिर तो वही हुआ जो देवराज का इष्ट था। शर्मिष्ठा और उसकी दासियों ने देवयानी को इतना पीटा की वह बेसुध होकर धरती पर गिर पड़ी। उसके वस्त्रों को फाड़ डाला। सुन्दर शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। सुगंधित एवं पुष्प-स्तवकों से अलंकृत केशराशि को लुंचित करके रक्तरंजित बना डाला और जब देखा कि उसमें संज्ञा का विलोप हो चुका है तो उसे उठाकर एक अन्धकूप में डाल दिया। देवयानी की दासियाँ सम्राट् की कन्या शर्मिष्ठा के क्रोध को जानती थीं। उनमें प्रतीकार की शक्ति नहीं थी। चुपचाप सहन करने के सिवा उनके सामने कोई दूसरा मार्ग कहाँ था। देवयानी की इस दुर्गत के अनन्तर चण्डिका शर्मिष्ठा ने उन समस्त आतंकित राज-कन्याओं एवं दासियों को सुनाकर यह घोर गर्जना की—

—'असुरेन्द्र वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा में अनुरक्त सहेलियो और दासियो। हतभागिनी देवयानी अपने कुकृत्यों का परिणाम भोग चुकी। एक भिक्षुक ब्राह्मण की कन्या होकर वह सम्राट् की कन्या को अपमानित

करना चाहती थी। उसका दुस्साहस इतना प्रबुद्ध हो गया था कि उसने मेरे नूतन वस्त्र पहन लिए और मेरे पिता द्वारा दान-दक्षिणा में प्राप्त अपने दूषित वस्त्रों को उसने मेरे लिए छोड़ दिया। मैं ऐसे निन्दनीय व्यवहार को क्षमा नहीं कर सकती थी। मैंने उसे जो दण्ड दिया है, वह उसी के योग्य थी। अब मैं तुम सब को गंभीरता से सावधान कर देना चाहती हूँ कि देवयानी का यह प्रकरण सर्वथा संगोप्य रहे। यदि कहीं से भी इसका रहस्य प्रकट हुआ तो मैं एक-एक की ऐसी ही दुर्गति करूँगी जैसी अभी देवयानी की हुई है। तुम सबको सतर्क होकर मेरी इस आज्ञा का पालन करना ही होगा।'

शर्मिष्ठा की इस नृशंस आज्ञा को उन अति भयभीत राजकन्याओं और दासियों के साथ उस नीरव वनराजि ने भी शिरसा धारण किया। न तो किसी ने कोई कुतर्क किया और न किसी ने सांस ली। देवयानी की दासियाँ अपने नेत्रों के आँसू पी गयीं। क्योंकि शर्मिष्ठा की भयावनी आँखों की अग्निवर्षा उन पर निरन्तर हो रही थी। सब राज-कन्याएँ, अनुचरियाँ और सहेलियाँ भयाक्रान्त और निम्नाभिमुखी होकर शर्मिष्ठा के इन क्रूर वचनों की प्रतिध्वनि अभी सुन ही रही थीं कि वह पुनः वातावरण को प्रकम्पित करती हुई गरज पड़ी—

—'और देवयानी की दासियो! तुम्हारे लिए यह क्षण कठोर परीक्षा का है। तुम्हें यह नहीं सोचना है कि देवयानी के अभाव में तुम्हारी आजीविका कहाँ से चलेगी। अब से तुम्हें हमारे ही संग रहना होगा और मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार से मेरे प्रति अपनी निष्ठा का प्रमाण प्रस्तुत करना होगा।'

देवयानी की दासियाँ इस दुहरे प्रहार से बेसुध-सी हो गईं। वे ऐसी असहाय अवस्था में थीं कि अन्तर के दुःखावेग को अपने उच्छ्वासों के साथ भी प्रकट नहीं कर सकती थीं। निस्तब्ध, नीरव वन के द्रुमदलों में भी यह क्षमता नहीं थी कि शर्मिष्ठा के कोप का वे भी कुछ प्रतीकार करते। सब अवसन्न थे।

इस दुर्घटना से देवराज इन्द्र की सहस्र आँखें आन्तरिक प्रसन्नता से परिपूर्ण हो गयीं और मरुत्वान् की गति में आह्लाद की मन्थरता आ गयी। वह प्रसन्न और मंद गति से शीतलता और सुगंध की वर्षा करने लगा।

× × ×

सन्ध्या हुई। असुरेन्द्र की भयविह्वला महानगरी का दैनिक कार्यक्रम शिथिल पड़ने लगा। दिनमणि अस्तंगत हो गए और पूर्व के क्षितिज पर रुआंसे चन्द्रमा की शिथिल किरणें अपना व्यापार फैलाने लगीं। किन्तु प्रति दिन की वह सुषमा उस पुरी में कहीं ढूँढने पर भी दिखाई नहीं पड़ रही थी। वायु की गति में न तो चंचलता थी और न पक्षिओं के कलरव में ही आनन्द की मदिरा थी। आचार्य की एकलौती लाड़ली की इस दयनीय दुर्दशा पर सभी के कंठ भरे हुए थे। इस दुर्घटना से सर्वथा अनभिज्ञ और निश्चिन्त आचार्य शुक्र सन्ध्यावन्दन की वेला जानकर जब सपने आश्रम में प्रविष्ट हुए तो न कहीं देवयानी की वाणी उन्हें सुनाई पड़ रही थी और न दासियाँ ही दृष्टिगत हो रही थीं। समूचा आश्रम श्मशान के समान भयंकर और निस्तब्ध था। उनकी बुद्धि में यह बात नहीं आ सकी कि देवयानी को आज इतना विलम्ब कहाँ हो गया? प्रतिदिन आश्रम में ही रहने वाली दासियाँ भी नहीं थीं, पूछते भी तो किससे पूछते। निरुपाय थोड़ी देर तक वे विचारमग्न होकर खड़े थे कि दूर से ही उनके कानों में परिचित वृद्धा दासी के रुदन का करुण स्वर सुनाई पड़ गया। अमंगल की भयावनी रेखा विद्युत् तरंगों के समान उनके हृदयाकाश में अकस्मात् चमक उठी। उनका मस्तिष्क दुर्भावनाओं के जंजाल से जटिल हो उठा। किंकर्तव्यविमूढ़ होकर वह क्षण भर तक खड़े रहने के अनन्तर दासी की ओर लड़खड़ाते हुए दौड़ पड़े।

वृद्धा ने भरे हुए कण्ठ से किसी प्रकार बड़ी कठिनाई से शर्मिष्ठा के समस्त कुकृत्यों की संक्षिप्त चर्चा करते हुए यह भी संभावना प्रकट की कि देवयानी अब जीवित नहीं होगी। उस अत्यन्त भयंकर अंधकूप में जीवित प्राणी भी जब एक क्षण के बाद ही मृत्यु के मुख में चला जाता है तो

संज्ञाविहीन एवं अत्यन्त आहत देवयानी के जीवित होने की कल्पना नहीं की जा सकती।

वृद्धा दासी की अमंगलवाणी सुनते ही आचार्य शुक्र की दशा अत्यन्त दयनीय हो उठी। उनका शास्त्रज्ञान इस भयंकर दुर्घटना के आघात से चकनाचूर हो गया। कटे हुए जीर्ण द्रुम की भांति वह धरती पर गिर पड़े और उनकी वृद्ध भुजाएँ अवलंब के अभाव में थोड़ी देर तक तड़पकर निश्चेष्ट हो गयीं। देवयानी की प्रसन्नता में ही अपने जीवन को चरितार्थ मानने वाले आचार्य की धीरता और गंभीरता उनकी विद्या और बुद्धि के साथ ही निष्क्रिय हो चुकी थी। 'हा पुत्री! तुम्हारे बिना मैं क्षणभर भी जीवित नहीं रहना चाहता।'

इस एक वाक्य को छोड़कर उनकी दासी को भी उनके समीप से कुछ दूसरा शब्द नहीं सुनाई पड़ा।

+ + +

उधर उस अंधकूप में डाली गयी देवयानी को जब संज्ञालाभ हुआ तो उसने देखा कि उससे बाहर निकलने का कोई मार्ग नहीं है। आघातों की असह्य पीड़ा से व्यथित उसका अंग-प्रत्यंग इतना अशक्त हो गया था कि केवल रुदन के अन्य कोई आश्रय नहीं था। मध्याह्न बीत गया, सन्ध्या समीप आ गयी; किन्तु उस अन्धकूप से बाहर निकलने का कोई उपाय उसे नहीं सुझाई पड़ा। विवशता की इस दयनीय स्थिति में वह करुण-क्रन्दन करने लगी, किन्तु वहाँ सुननेवाला कोई था ही नहीं। निविड़ अन्धकार की काली चादर से जब समस्त अरण्यानी ढंकने लगी तो उस अन्धकूप में निशीथ का साम्राज्य फैल गया। फिर तो देवयानी की निराशा द्विगुणित वेग से रुदन का रूप धारण कर नीरव प्रदेश को दूर दूर तक अपनी ओर आकर्षित करने लगी।

संयोगात् मृगया से परिश्रान्त नहुषपुत्र सम्राट् ययाति श्लथ-विश्लथ होकर जल की खोज में उस अन्धकूप के समीप ही विचरण कर रहे थे। उनकी वर्द्धमान पिपासा सन्ध्या के उस झुटपटे में एक असहाय अबला

के करुण-क्रन्दन को सुनकर अपने आप सूख गई। कुतूहल और करुणा के वेग से खिंचे हुए वह उस भयंकर अन्धकूप के समीप पहुँचकर जब उसके भीतर झांकने लगे तो वहां उन्हें अग्निशिखा के समान तेजस्विनी तथा देवकन्या के समान सुन्दरी देवयानी का कुम्हलाया मुखचन्द्र दिखलाई पड़ा। अपने जीवन से अत्यन्त हताश देवयानी सम्राट ययाति को देखकर निहाल हो उठी। वह तुरन्त ही करुणा और निराशा से बोझिल स्वर में चिल्ला उठी—

'महापुरुष। मेरे जीवन की रक्षा करें। मैं देवगुरु आचार्य शुक्र की कन्या देवयानी हूँ। मेरे अंगों में असह्य पीड़ा हो रही है। वृषपर्वा की कुपुत्री शर्मिष्ठा और उसकी दुष्ट दासियों ने मुझे आहतकर इस अन्धकूप में डाल दिया है। उन्होंने समझा था कि मैं मर गयी हूँ। किन्तु ऐसा लगता है कि मेरे जीवन का सूत्र अभी लंबा है। आप जैसे इन्द्रोपम ऐश्वर्यशाली एवं पराक्रमी महापुरुष के हाथों से मेरा उद्धार होना ही यह सिद्ध करता है कि इस विपदा में भी मेरे सौभाग्य का ही कोई रहस्य छिपा हुआ है।'

सम्राट् ययाति शुक्राचार्य की कन्या देवयानी के रूप-सौंदर्य एवं स्वभाव के सम्बन्ध में फैली चर्चाओं से अवगत थे। निदान देवयानी का नाम सुनते ही उनका हृदय उमड़ आया। शरीर पुलकित हो गया और वाणी में एक विचित्र प्रकार का रस घुल गया। आत्मा और शरीर की इस अद्भुत एवं अननुभूत स्थिति का भान ययाति को स्वयमेव नहीं हुआ और कर्त्तव्य की रज्जुओं में बँधे हुए के समान वे उस भयंकर अंधकूप से देवयानी के उद्धार के लिये बिना विचार किए ही उसमें उतर पड़े। देवयानी की देव-दुर्लभ काया और उद्दाम यौवन की रेखाओं से विमंडित अङ्ग-प्रत्यङ्ग की सुषमा उस विपदा में भी इतनी मोहिनी थी कि मनस्वी ययाति का मन बिना मोल के ही बिक गया था। और उनके जन्मजन्मान्तर के प्रसुप्त संस्कार अपने आप ही उद्भूत हो उठे थे। उन्हें अनुभव हुआ जैसे देवयानी की रचना उन्हीं के लिए विधाता ने की है। किन्तु राजधर्म की उच्च भावभूमि में किसी प्रकार अपने दृढ़ साहस को टिकाकर राजा ययाति ने बिना कुछ कहे सुने

ही देवयानी को उस अंधकूप से बाहर निकाल दिया और स्वयं प्रकृतिस्थ ही बने रहे।

शरीर की असह्य वेदना से मुमुर्षु देवयानी ययाति के अवलम्ब को पाकर जब बाहर निकली तो उसमें नवचेतना का संचार हुआ। ययाति ने सहारा देकर उसे शुक्र के आश्रम के समीप पहुँचाने की जब इच्छा प्रकट की तो उसने स्वयमेव जाने से इनकार किया। ययाति अपने पथ पर चले गए, किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी उनका नवयौवनोद्वेलित हृदय देवयानी की विस्खलित रूपराशि पर ही मंडराता रहा। और देवयानी ने भी मन में संकल्प कर लिया कि अनुकूल स्थिति आते ही वह अपने सर्वस्व को सम्राट् ययाति के पैरों पर निछावर कर देगी।

थोड़ी ही देर में आचार्य शुक्र भी देवयानी को ढूँढ़ते हुए दासी के साथ उस अंधकूप के समीप आ पहुँचे। उन्होंने देखा—देवयानी जीवित है और उसके कोमल अंगों एवं वस्त्रों पर आघातों के क्रूर एवं रक्तरंजित चिह्न अब भी उसी प्रकार उभड़े हुए हैं। दूर से ही दौड़कर उन्होंने देवयानी को अंक में लिपटा लिया और उसकी इस दयनीय विपदा का स्मरण कर करुणा-विगलित हृदय से अश्रु बहाने लगे।

देवयानी अमर्ष और क्रोध के ज्वालामुखी के समान दीर्घ श्वासें खींचने लगी, किन्तु वह सोच नहीं पा रही थी कि अपने इस प्रदीप्त क्रोध को वह किस प्रकार प्रकट करे? आचार्य ने देखा—रोते-रोते उसके मुख और नेत्र लाल हो गए हैं और शरीर के सभी अंगों पर रक्त की बूंदें सूख कर उसकी करुण-कथा बिना पूछे ही सुना रही हैं।

वे गद्गद् वाणी में बोल पड़े—'बेटी! तुम्हारी इस दुर्दशा को देखकर मैंने मान लिया कि इस संसार में विद्या और बुद्धि ही सब कुछ नहीं हैं। निजकृत कर्मों का कठोर दण्ड सबको भोगना ही पड़ता है। त्रैलोक्य की सब समृद्धि और देवदुर्लभ संजीवनी विद्या की शक्ति भी मुझे इस कर्म-पाश से नहीं बचा सकी। मैं मानता हूँ कि तुम्हारी यह जो दुर्दशा हुई है वह हमारे और तुम्हारे किसी पापकर्म का ही कठोर दंड है।'

देवयानी का रहा-सहा धैर्य भी विलुप्त हो गया। यद्यपि रोते-रोते उसके कण्ठ के स्नायु तन गये थे और स्वर की सहज माधुरी नष्ट हो चुकी थी, तथापि बिना बोले अब वह रह ही नहीं सकती थी। अत्यन्त परिश्रम और वेदना के दुर्वह बोझ को संभालते हुये वह उबल पड़ी। बोली—'मेरे तात! यह सब मेरे दुष्कर्मों का दण्ड नहीं है। पापात्मा असुरों का धान्य खा-खाकर आपने अपने पुरुषार्थ को श्रीविहीन कर लिया है। निःश्रीक पुरुषों की शक्ति संसार में सदा से इसी प्रकार अपमानित हुई हैं। मैं तो मानती हूँ कि इस गर्हित अपमान से भरा हुआ हमारा जीवन मृत्यु के क्रूर-कठोर पंजों से भी बढ़कर दुख:दायी है। क्या मेरी इस दुरवस्था का कारण आपकी वह हीनता नहीं है जो शर्मिष्ठा के शब्दों में—भिखमंगों, याचक और निःशक्त को ही शोभा देती है।'

आचार्य शुक्र का प्रसुप्त पुरुषार्थ शर्मिष्ठा की दूषित चर्चा से प्रबुद्ध हो उठा। देवयानी की मार्मिक वाणी ने उन्हें ऐसा धक्का दिया कि वह विक्षिप्त के समान विचलित होकर चिल्ला उठे—'बेटी देवयानी! बस करो। अब इससे तीक्ष्ण वाग्बाणों के प्रहार को सहन करने की शक्ति मुझ में नहीं है। किन्तु पुत्री! मैं तुम से इस समय भी कुछ ऐसी बातें कहना चाहता हूँ, जो सदैव तुम्हारा कल्याण-साधन करेंगी।'

'तुम भली भाँति जानती हो कि तुम किसी भिखमंगे और याचक की पुत्री नहीं हो। तुम उस पराक्रमी एवं शक्तिमान ब्राह्मण की पुत्री हो जिसके सम्मुख देवराज इन्द्र और असुरेन्द्र वृषपर्वा सदैव नतमस्तक रहते हैं। मेरे इस अखण्डनीय ब्रह्मवर्चस् की महिमा पाताल लोक में शर्मिष्ठा का पिता वृषपर्वा भली भाँति जानता है। स्वर्ग के देवता इन्द्र को मेरे नाम से सुख की निद्रा भी नहीं आती और धरती पर एकच्छत्र सम्राट् ययाति भी मेरे प्रभाव को अच्छी तरह जानता है। बेटी! तीनों लोकों के इन अधीश्वरों के बंदनीय शुक्राचार्य की एकाकिनी और लाड़ली पुत्री को इस प्रकार की निराशाजनक बातें शोभा नहीं देतीं।'

'पुत्री! मेरा अपना मत तो यह है कि जो मनुष्य दूसरों की कटु बातों

को शक्ति रहते हुए भी सहन कर लेता है, वह संसार को पराजित कर सकता है—ऐसा समझ लो। हृदय में बसे हुये अमर्ष और क्रोध को नियंत्रित करने वाला व्यक्ति एक सफल साधक है, वह दुर्दमनीय शत्रु को भी अपने वश में कर सकता है। देवयानी! इस धरती पर सचमुच क्षमाशील पुरुष से बढ़कर शक्तिशाली कोई दूसरा नहीं हैं। शर्मिष्ठा तुम्हारी प्रिय सखी है, उसकी बुद्धि अभी कच्ची है। बच्चे अपने वयस्कों के साथ कभी-कभी ऐसा व्यवहार कर ही देते हैं। तुम्हारी स्थिति उससे ऊँची है। तुम उससे न केवल विद्या और वय में ही श्रेष्ठ हो वरन् गुरु की कन्या के नाते तुम पर दायित्व भी गंभीर हैं। तुम्हें उसकी छोटी छोटी बातों के भीतर नहीं जाना चाहिये।'

देवयानी अधिक नहीं सुन सकी। अत्यन्त क्रोध से विक्षिप्त होकर वह बीच में ही बोलने को विवश हो गई। बोली—'मेरे पूज्य तात! मैं अपना कर्तव्य और दायित्व भलीभाँति समझती हूँ। किन्तु मैं अब एक क्षण भी इन असुरों के बीच नहीं रहना चाहती। अग्नि की भयंकर ज्वाला के समान शर्मिष्ठा के कुवाच्यों ने मेरे समस्त विवेक को जला डाला है, और अपने शरीर पर भोगे हुये आघात और अन्धकूप की यातना को मैं अपने शरीर के साथ ही भुला सकूँगी। आपका ब्रह्मतेज और विवेक यदि इस अपमान-जनक स्थिति में भी यहाँ रहने की अनुमति देता है तो मैं आप से अन्तिम विदा लेकर उस पितर लोक में जाना चाहती हूँ जहाँ ऐसी विपदा और अपमानजनक स्थिति का मुझे अवसर नहीं मिलेगा। तात! मैं सचमुच अब यहाँ नहीं रहना चाहती।'

वाक्य पूरा न होते ही देवयानी संज्ञाविहीन होकर शुक्र के अंक में झूल गयी। उसकी निश्चेष्ट मुख-मुद्रा में जीवन के लक्षण बीतने लगे।

आचार्य शुक्र इतने पाषाण-हृदय नहीं थे। अपनी अमोघ संजीवनी विद्या के प्रभाव से देवयानी को आश्वस्त करते हुये वह बोले—'बेटी! चलो, यदि ऐसा ही है तो, मैं अब तुम्हारी इच्छा की पूर्ति को ही अपना कर्त्तव्य मानूँगा। चलो, तुम्हें कहाँ चलना है, मैं इसी प्रकार अब तुम्हारे साथ ही चला चलूँगा।'

तदनन्तर आचार्य शुक्र देवयानी और उसकी परिचारिका वृद्धा के साथ राजधानी से विपरीत दिशा की ओर चल पड़े।

असुरेन्द्र वृषपर्वा को जब गुप्तचरों ने जाकर सूचना दी कि आचार्य शुक्र राजधानी को छोड़कर बहुत दूर जा चुके हैं और सम्राट् की कन्या शर्मिष्ठा और उसकी दासियों द्वारा देवयानी की ऐसी दुर्दशा हुई है तो वह अत्यन्त विचलित हो उठा। अमात्यों एवं अन्य गुरुजनों के साथ आचार्य शुक्र को मनाने के लिए वह पैदल ही दौड़ते हुए तुरन्त चल पड़ा। और शीघ्र ही शुक्र के समीप पहुँचकर उनके पैरों पर गिर पड़ा और विनय पूर्वक बोला—'गुरुदेव! इस सकारण कोप का प्रतीकार यदि हमारी सम्पूर्ण समृद्धि के विनाश से भी चुकाया जा सकता हो तो मैं उसके त्याग के लिये सर्वात्मना प्रस्तुत हूँ। यही नहीं, मैं अपने सम्पूर्ण पराक्रम, ऐश्वर्य एवं अपने तथा प्रियजनों के प्राणों से भी उसका मर्षण करने को तैयार हूँ। तब फिर आप बिना सूचना दिए ही हमें इस प्रकार अनाथ बनाकर क्यों चले जा रहे हैं?'

आचार्य शुक्र रुक गये थे और देवयानी की कोपमुद्रा इस विचित्र स्थिति एवं वार्ता से कुछ विनम्र बन चुकी थी। अमात्य गण नतमुख एवं करबद्ध खड़े थे। सब की वाणी अवरुद्ध थी, किसी में यह साहस नहीं था कि सम्राट् और आचार्य की इस वार्ता में किसी नए सन्दर्भ का सूत्रपात करे।

कुछ क्षण तक स्तब्धता रही। सभी लोग आचार्य के कोपाविष्ट मुख की ओर से कुछ सुनने की प्रतीक्षा में थे कि देवयानी बीच में ही बोल पड़ी। उसके नीरस वाक्यों में घृणा और उपेक्षा का गहरा रंग था। उसने कहा—'असुरराज! अपनी इस स्थिति के प्रतीकार का उपाय उस अपनी लाड़ली पुत्री शर्मिष्ठा से न पूछकर एक भिक्षुक और याचक से पूछने के लिए इतनी दूर क्यों चले आये? हम राजधानी को वापस नहीं जा सकते। हमारा निश्चय अटल और ध्रुव है।'

वृषपर्वा ने कहा—'पुत्री! मैं अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं समृद्धि से

जिस आचार्य की सेवा-सपर्या में सदा तत्पर रहता हूँ, उसे भिक्षुक और याचक बनाने की शक्ति किसमें है ? शर्मिष्ठा तुम्हारी छोटी बहिन है, वह जो कुछ कहे या सुने, उसका प्रभाव हमारे व्यवहारों पर कैसे पड़ सकता है ?'

आचार्य शुक्र अब तक मौन थे। अब उनसे नहीं रहा गया। क्रोध से भरे नेत्रों से वह अश्रुबिन्दु और अंगार बरसाते हुए बोले—'वृषपर्वा। मेरी एकलौती बेटी देवयानी को मारकर जब शर्मिष्ठा ने अन्धकूप में डाल दिया था तो क्या तुम्हें इसकी सूचना भी नहीं थी ? मैं इतना मूर्ख नहीं हूँ कि इस घोर दुष्कृत्य में केवल अबोध शर्मिष्ठा की बुद्धि को दोष देकर रह जाऊं। मैं सब कुछ जान चुका हूँ। असुर लोग मुझे निःसहाय बनाकर अपने वश में रखना चाहते हैं। ऐसा कदापि नहीं सम्भव होगा असुरराज !'

शुक्र के गहरे दुःख में डूबकर वृषपर्वा ने सच्ची सहानुभूति का प्रदर्शन करते हुए हाथ जोड़कर विनम्र स्वर में फिर कहा—'आचार्य ! बेटी देवयानी की दुर्दशा की सूचना मिलते ही मैं इस ओर चला आया हूँ। मैं शर्मिष्ठा को ही नहीं अपना सम्पूर्ण परिवार, धन, वैभव, प्रभुत्व, ऐश्वर्य—सब कुछ आपके चरणों में सौंपता हूँ। आप ही इस घृणित अपराध का कठोर दण्ड निश्चित करें। न केवल शर्मिष्ठा ही वरन् असुरों की सारी प्रजा आपके उस दण्ड को शिरसा ग्रहण करेगी।'

शुक्राचार्य ने कहा—'असुरराज ! तुम देवयानी से ही ऐसा निवेदन करो, मैं तो सब प्रकार से उसी के अधीन हूँ।'

देवयानी का कोप अब कुछ शान्त हो चला था और उसके विक्षुब्ध मानस में प्रसन्नता का गुप्त उदय हो रहा था। अपने अजेय पिता के वैभव और प्रभुत्व की इस प्रत्यक्ष एवं रसवन्ती अनुभूति में उसे अपना जलाता हुआ अपमान धुलता हुआ सा दिखाई पड़ा। उसकी आँखों से क्रोध की रक्त-रेखाएं विलीन हो गयीं थीं और मुख की भंगिमा में उसके सौंदर्य का सहज विलास खेलने लगा था। उसने देखा और सुना त्रैलोक्य का स्वामी वृषपर्वा उसके सम्मुख हाथ बांधे हुए कह रहा है—

'पुत्री! देवयानी! मैं तुम्हारी प्रसन्नता के लिए अपने समस्त साम्राज्य को निछावर कर सकता हूँ। हतभागिनी शर्मिष्ठा ने तुम्हारा जो भी अपमान किया हो उसका प्रतीकार करने के लिए मैं सब प्रकार से तुम्हारे हाथों में हूँ। तुम जो कुछ भी चाहोगी, मैं उसका पालन करूंगा। यदि तुम उसे क्षमा नहीं करोगी तो जो कुछ भी चाहो उसे दण्ड तो दो।'

देवयानी ने वृषपर्वा की इस विनीत वाणी में अपनी इच्छा-पूर्ति का उपयुक्त अवसर देखा। प्रतिहिंसा की क्रूर अनुभूति से उसका हृदय पुनः जल उठा। वह कठोर स्वर में बोली—'सम्राट्! शर्मिष्ठा ने मेरी जो दुर्गति की है, उसका परिणाम तो उसे भोगना ही होगा। मैं चाहती हूँ कि अपनी सहस्रों दासियों समेत शर्मिष्ठा जीवन भर मेरी दासी का कार्य करे। मेरे पिता जी जहां कहीं मेरा विवाह करेंगे, वहां पर दासी के रूप में दासियों समेत शर्मिष्ठा को भी जाना होगा। मेरी इच्छा यही है। यदि आप इसे स्वीकार करें तो हम लोग राजधानी को वापस जा सकते हैं, अन्यथा कदापि नहीं।'

देवयानी की कठोर वाणी असुरसम्राट् के हृदय में बिजली की रेखा के समान प्रविष्ट हो गयी। वह विचलित हो उठा। अपनी एकलौती बेटी की इस दुर्दशा का उसे कभी अनुमान भी नहीं था, किन्तु वह करता भी क्या? किंचित् काल तक विचार के अगाध समुद्र में डूबकर वह त्राण का का कोई न कोई उपाय ढूंढ़ना ही चाहता था कि देवयानी पुनः गरज पड़ी—

—'सम्राट्। मैं जानती हूँ कि शर्मिष्ठा ने जो कुछ किया है उसमें आप की भी सहमति अवश्य रही होगी। यही कारण है कि आप प्रतिज्ञा के पालन से भी अपना गला छुड़ाने का उपाय सोचने में निरत हैं। किन्तु स्मरण रहे देवयानी अब धोका नहीं खाएगी। इस शर्त के सिवा हम राजधानी की ओर वापस लौटना तो दूर दृष्टि भी नहीं फेरेंगे।'

वृषपर्वा अवाक् हो गया। निरुपाय और निरवलंब होकर वह आचार्य के चरणों पर गिर पड़ा और अवरुद्ध कण्ठ से सिसकते हुए बोला—

'आचार्य। शर्मिष्ठा वही करेगी, जो देवयानी चाहती है। आप राजधानी को वापस चलें।'

आचार्य कुछ बोलना ही चाहते थे कि देवयानी बीच में ही फिर बरस पड़ी—'सम्राट् आपकी इस प्रतिज्ञा का मूल्य मैं कुछ भी नहीं समझती, शर्मिष्ठा को दासियों समेत स्वयमेव यहां आकर हम सब के सम्मुख इस प्रतिज्ञा की शपथ लेनी पड़ेगी।'

देवयानी की यह कठोर वाणी अन्तरिक्ष में विराजमान देवताओं के मानस में प्रसन्नता का पारावार उमड़ाते हुए चतुर्दिक में व्याप्त हो गयी।

\+ \+ \+

अपराधिनी शर्मिष्ठा अपने शासक पिता की कठोर आज्ञा और असुरजाति की कल्याण-साधना से विमुख नहीं हो सकती थी। उसे क्रूर देवयानी की इच्छापूर्ति के लिए अपनी सहस्रों दासियों के साथ सब के सम्मुख उक्त प्रतिज्ञा के पालन की शपथ ग्रहण करनी पड़ी और क्रोध के अनिवार्य आवेग में उसने जो गर्हित अपराध कर दिया था उसका जीवन भर उसे गहरा दण्ड चुकाना पड़ा। उसी दिन से वह देवयानी की दासी बनकर आचार्य शुक्र के आश्रम में ही निवास करने लगी और मनस्विनी देवयानी ने उसके पूर्वकृत छोटे-मोटे अपराधों का ऐसा गहरा बदला चुकाया, जिसकी विपुल चर्चा से महाभारत एवं पुराणों के अनेक अध्याय बोझिल हो उठे हैं।

पूरु और ययाति

यह भी पौराणिक युग की कहानी है। यह उस समय की घटना है, जब धरती पर यज्ञ-यागादि के सुगंधित धूमों से मेघों की घटाएं बोझिल हो जाती थीं और वसुन्धरा का प्रत्येक अंचल धन-धान्य से परिपूर्ण रहता था। जब धन और दान का अमिट संयोग था और मानवमात्र में यह अभिलाषा थी कि उसका इहलोक और परलोक परोपकार की प्रवृत्तियों में बीत जाय। किसी को कभी भूलकर भी दुःख न पहुँचे और जीवन में ऐसा एक प्रसंग अवश्य ही उपस्थित हो जब धन, यौवन और जीवन की बलि देने का ऊंचा से ऊंचा आदर्श स्थिर किया जा सके। उस पुण्य युग में समस्त शारीरिक सुविधाएं नगण्य हो गयी थीं और समाज का समग्र जीवन ऊंचे आदर्शों के कंटीले ढांचों में ढालकर संचालित हो रहा था। विद्या, ब्रह्मचर्य, योगाराधन और तपस्या ही शारीरिक सौन्दर्य के प्रसाधन मान लिए गए थे और देश, समाज एवं उज्ज्वल यश के लिए जीवन को उत्सर्ग करने की उच्चाकांक्षा को संजोने का सत्संकल्प ही प्रत्येक स्वाभिमानी युवक की सहजवृत्ति बन गयी थी। पृथ्वी पर चारों ओर सुख ही सुख था। सन्तोष की शीतल सुखदायिनी छाया में मानव जाति के ताप-सन्ताप दूर हो गए थे। काम-क्रोध एवं ईर्ष्या-द्वेष की दुष्प्रवृत्तियों पर समाज की सहज घृणा हो गयी थी और धन-सम्पत्ति की अधिष्ठात्री देवी महालक्ष्मी को विष्णुप्रिया होने पर भी उलूक पर बिठाकर अपमानित किया जा चुका था। धन एवं धरती संग्रह एवं निजी उपभोग की वस्तु नहीं रह गयी थीं। गृहस्थ को संध्या समय तक जो कुछ मिलता था, उसे उपभोग के सिवा दूसरे दिन के प्रभात में ही दान कर देना कल्याण समझा जाता था। विद्या एवं प्रतिभा की शाश्वत पूजा होती थी और सरस्वती के सर्वतोभद्र वाहन राजहंस के पीतचरणों की छाया को ही सुवर्ण का अपर पर्याय मान लिया गया था।

उसी पुण्य युग के अरुणोदय की यह कहानी है। हमारे देश की धरती पर नहुषपुत्र सम्राट् ययाति का शासन था। नहुष ने ययाति के राज्याभिषेक के लिए मंगलकलश की कामना तो की थी, किन्तु उसे यह आशा नहीं थी कि यह समस्त भूमण्डल ययाति की भुजाओं से अधिशासित होगा। पिता की आशाओं से अतिदूर पहुंचकर ययाति ने यौवनकाल में ही इस सप्तद्वीपा वसुन्धरा को अपने अधीन कर लिया था, और सर्वत्र से प्राप्त धन-सम्पत्ति को उसने विद्याव्रती ब्राह्मणों एवं दीन-दुखियों में वितरित कर सबको एक समान बना दिया था। यज्ञों एवं हवनादि के पावन प्रसंगों में उसने समस्त प्रजावर्ग को इस प्रकार प्रेरित कर दिया था कि मानों जीवन-धारण का इससे बढ़कर कोई दूसरा सदुद्देश्य ही नहीं था। पुराणों का कथन है कि उस महान् सम्राट ने सैकड़ों बार राजसूय यज्ञ किया था और सर्वांग-सुन्दर श्यामकर्ण अश्वों का यज्ञ में आलम्भन देकर देवताओं को बारम्बार सुप्रसन्न किया था। उसने दान एवं यज्ञ की नूतन परम्पराएं स्थापित की थीं और उसके समय से पूर्व जो भी प्राचीन परम्पराएं थीं, उनकी अनेक बार आवृत्ति की थीं।

सम्राट ययाति ने कभी मिथ्या भाषण नहीं किया था और न कभी किसी का चित्त ही दुःखित किया था। उसकी धारणा थी कि राजा के सत्य के बल पर ही धरती और आकाश टिके रहते हैं। जिस दिन राजा सत्य से च्युत हो जाता है, बस उसी दिन प्रलय आ जाती है। राजा का तपःतेज ही अग्नि में दाहकता की शक्ति पैदा करता है और उसकी करुणा तथा क्षमा से ही पृथ्वी को यह चराचर सँभालने की क्षमता प्राप्त होती है। किंबहुना सम्राट ने यह भी मान लिया था कि ये सूर्य, चन्द्रादि नवग्रह एवं तारकगण भी राजा की सत्यनिष्ठा, करुणा एवं क्षमा से संचालित होते हैं। जिस दिन राजा इन सद्गुणों से पराङ्मुख हो जाता है उसी दिन विधाता को अपना यह सृष्टिचक्र स्वयं सँभालने की स्थिति आ जाती है। निदान सम्राट् ययाति इन्ही स्वर्गीय पुण्य-प्रेरणाओं से रात्रिन्दिव संचालित होता था और अपने को परमात्मा का एक प्रतिनिधि मानकर सन्न्याय

और सद्बुद्धि से पृथ्वी का शासन-सूत्र चलाता था। प्रजा उसे पृथ्वी का प्रभु समझती थी और पालक पिता के समान उसके संकेतों को ही अपना जीवन-लक्ष्य मानती थी।

सम्राट् ययाति मानव जाति का ही ईश्वर नहीं था, देवताओं और असुरों पर भी उसकी अतुलनीय शक्ति एवं सद्गुणों की अपूर्व धाक थी। देवराज इन्द्र का उससे प्रगाढ़ मैत्री-सम्बन्ध था तथा असुरेन्द्र वृषपर्वा एवं असुरगुरु शुक्राचार्य का वह जामाता था। असुरपति की कन्या शर्मिष्ठा और असुराचार्य शुक्र की कन्या देवयानी दोनों ही उस पर प्राण देती थीं। उस त्रिभुवन विजयी सम्राट ययाति की महिमा धरती और आकाश में सर्वत्र व्याप्त थी। देवताओं में भी यह स्पृहा थी कि वह धरती धन्य है जिसका शासन ययाति के हाथों में है। ययाति के वैभव और विलास की मनोहर कथाओं में उसके देवोपम गुणों की सुगन्ध ने समूचे जगतीतल को सुरभित कर दिया था। परकीय वैभव के सहज द्वेष्टा देवराज इन्द्र में भी ययाति के प्रति कोई कुण्ठा नहीं थी और वे भी अपनी सहज वृत्ति से अपने अनन्य सखा सम्राट् ययाति के मंगलाकांक्षी थे।

किन्तु सब प्रकार की सुख-शान्ति एवं समृद्धि के इन मंगल उपादानों के बीच भी ययाति के अन्तर्मन में एक ऐसी वेदना घनीभूत हो गयी थी जिसके प्रशमन का कोई उपाय त्रिभुवन भर में कहीं भी दृष्टिगत नहीं हो रहा था। आचार्य शुक्र की लाड़ली कन्या देवयानी का पाणिग्रहण करते समय भरी सभा में आचार्य को जो वचन दिया जा चुका था उसका उल्लंघन करना सम्राट् ययाति के वश में नहीं था। वह वचन बद्ध था। 'एकमात्र देवयानी ही ययाति की प्राणवल्लभा होगी असुरेन्द्र वृषपर्वा की एकाकी कन्या शर्मिष्ठा अपनी दस सहस्र दासियों एवं सखियों के साथ देवयानी की परिचर्या में रहेगी और कभी भूलकर भी ययाति का शर्मिष्ठा से सम्भाषण भी नहीं हो सकेगा।' इस प्रदत्त वचन में अन्य सम्बन्धों की तो कल्पना ही नहीं हो सकती थी। हतभागिनी शर्मिष्ठा के इस अनवरत जलते हुये जीवन में शान्ति की एक लघुलहरी भी कहीं नहीं दिखाई पड़

रही थी। त्रैलोक्य विजयी असुर सम्राट् की लाड़ली एकाकिनी कन्या होने पर भी उसे समूची असुरजाति के कल्याण के लिए यह जलता हुआ जीवन तो बिताना ही था, क्योंकि जिस संजीवनी विद्या के द्वारा आकाश, पाताल और मर्त्यलोक में असुरों की सदा से विजयदुन्दुभी बजती आ रही थी, उसके एक मात्र अधिष्ठाता, उसकी सपत्नी देवयानी के पिता आचार्य शुक्र ही थे। सपत्नी देवयानी की प्रचण्ड अमर्षाग्नि में अपने जीवन को झुलसते देना ही शर्मिष्ठा के भाग्य में बदा था और अपने इस दारुण जीवन में अपनी सहस्रों हतभागिनी सखियों एवं दासियों को भी उसे साथ-साथ रखना था।

सर्वसमर्थ होने पर भी न तो असुरसम्राट् वृषपर्वा में यह शक्ति थी कि वह शर्मिष्ठा को सुखी बना सकते और न स्वयं धरती के सम्राट ययाति के लिए ही यह संभव था कि समस्त भूमण्डल को सुखी बनाने की शक्ति रखकर भी वह अपनी शरण में रहने वाली शर्मिष्ठा को तनिक भी सुख दे सकते। आचार्य शुक्र के सम्मुख अंगीकार किए गए वचन को अन्यथा करने के विचार का पर्याय था सर्वस्व विनाश की क्रूर दुष्कल्पना।

सम्राट् ययाति की यह दुश्चिन्ता त्रिभुवन व्यापिनी थी, किन्तु देवयानी की इस क्रूर अनीति का प्रतीकार करने की क्षमता किसी में नहीं थी। सम्राट् ने अन्तःपुर के उस अंचल की ओर उसी दिन से आँख उठाना बंद कर दिया था जिस ओर हतभागिनी शर्मिष्ठा और उसकी सखियों तथा दासियों ने पिता के घर से आकर अपना निवास-स्थल निर्दिष्ट कर लिया था। धीरे-धीरे अनेक वर्ष बीत गए किन्तु देवयानी की प्रचंड अमर्षाग्नि इस दीर्घ कालावधि के बीतने पर भी शान्त नहीं हुई। दिन-रात सेवाओं में निरत रहने पर भी शर्मिष्ठा और उसकी दासियों की ओर से देवयानी का हृदय पुरानी द्वेषाग्नि से दग्ध ही बना रहा। पुरस्कार और प्रियवचन तो दूर सदा सेवा में निरत रहने पर भी दुत्कार और अपमान भरी निन्दा से ही शर्मिष्ठा का स्वागत किया जाता। ऐसा एक दिन भी नहीं आया जब देवयानी का मृदुवचन भी शर्मिष्ठा और उसकी सखियों एवं दासियों के कानों में आ पड़ा हो। दासियाँ और सखियाँ शर्मिष्ठा की इस अगाध वेदना

पर अपना दुःख भूल जातीं। वे सोचतीं—'जब स्वामिनी को ही ऐसा अपमान भोगना पड़ रहा है तो हम लोगों की चिन्ता करने वाला यहाँ कौन है ?'

ययाति के अन्तःपुर के एक अंचल में व्याप्त विपत्ति एवं यातना की यह क्रूर अवधि कालरात्रि के समान बड़े संकटों से कट रही थी। नित्य ही यह नूतन आशा धूसरित हो जाती कि देवयानी अब प्रसन्न होकर ही रहेगी। पाषाण के समान क्रूर एवं दुराराध्य देवयानी का नारीत्व दुर्भाग्य-वशात् इतना कठोर और जटिल बन चुका था कि उसमें अब शर्मिष्ठा आदि के लिए सद्भावनाओं का उदय संभव नहीं था। दिन-रात की अपमान भरी कुण्ठा से दासियों समेत शर्मिष्ठा के रहे-सहे धैर्य का जब अवसान हो गया तो वे सब की सब पुतलियों के समान देवयानी के अपमानपूर्ण आदेशों की प्रतीक्षा में ही रहने लगीं और अपने जीवन की सुधि-बुधि से शनैः शनैः उनकी चेतना भी दूर तक होती गयी।

वेदना जब अपनी सीमा को लांघकर आगे चली जाती है तो उसे वहन करने की शक्ति दुर्लभ नहीं रह जाती। शर्मिष्ठा ने मान लिया कि ऐसा दारुण जीवन बिताने के लिए ही उसे अतीत में वैसा सब सुख मिला हुआ था।

इसी प्रकार बहुत दिन बीत गए।

❀ ❀ ❀

वसन्त ऋतु अपने यौवन पर थी। ययाति के अन्तःपुर के उपवन की सुषमा अमरों के नन्दन कानन को लज्जित कर रही थी। धरती पर चारों ओर उन्मादिनी प्रकृति का वैभव बिखरा हुआ था। कुसुमित लताकुंजों एवं सरोवरों की सुरभित लोल-लहरियों पर क्रीड़ानिरत मलयानिल की शीतल चपल तरंगे अचेतनों में भी प्राण संचारित कर रही थीं। पक्षियों के मनोहर कलरव से दिशाएं गूंज रही थीं। अभागिनी शर्मिष्ठा दासियों से अलग होकर अपने गत जीवन की मधुर-स्मृति में आँसू गिराते हुए अशोक की नूतन मंजरियों एवं मल्लिका के पुष्पस्तवकों से देवयानी की शैय्या को सुसज्जित करने के लिए माल्यरचना कर रही थी। रेशम के कोमलतन्तु में सूची के सहारे सुगंधित मंजरियों के यौवन को क्रूरता से बाँधते हुए उसे

अपने दुर्भाग्य-विधाता की क्रूरता का अनायास ही स्मरण हो आया। उसने सोचा—'मेरे इठलाते हुए भाग्य को विधाता ने भी तो इसी तरह मसल डाला है।' ऐसा सोचते ही थोड़ी देर के लिए उसकी भींगी आँखें अपने आप ही स्थिर हो उठीं। हाथ जहाँ के तहां रुक गए। हृदय उद्वेलित हो गया और अपनी, अपनी सखियों एवं दासियों की, अपने पिता की तथा अपने हृदयेश्वर ययाति की इस कठिन एवं दुराराध्य परवशता का स्मरण करते ही क्रूर प्रतिहिंसा से उसकी शरीरयष्टि कम्पित हो गयी। उसने निश्चय किया—'देवयानी से उसे पुनः बदला चुकाना ही उचित होगा। सम्राट् ययाति एवं उनके वैभव पर देवयानी का जितना अधिकार है उतना ही उसका भी है। असुरजाति के कल्याण के लिए वह अपने तथा अपनी सहस्रों सखियों एवं दासियों के जीवन को अब दीपक की लौ की तरह जलाकर क्षार नहीं करेगी। जो भी हो, उसे भी देवयानी की भांति ही ययाति का प्रेम एवं आदर पाने का पूरा अधिकार है। और अन्याय की चक्की में अब अधिक दिनों तक उसे नहीं पिसना है।'

मन के इस निश्चय को पूरा करने का विचार आते ही शर्मिष्ठा के मानस में बिजली के तरंगों के समान स्फूर्ति आ गयी। देवयानी की शैय्या-रचना के अनन्तर उसने सम्राट् ययाति से उसी दिन एकान्त में जाकर भेंट की और शास्त्रों तथा नीतिज्ञों की सैकड़ों सदुक्तियों से उसकी कोमलता एवं करुणा को जाग्रत कर उसके अगाध प्रेम के स्रोत में जी भर कर स्नान किया। ययाति ने समस्त विपत्तियों की कल्पना करके भी शास्त्रों का स्मरण कर शर्मिष्ठा का मान रखा। किन्तु भयभीत दम्पति के इस गूढ़-प्रेम की कहानी देवयानी के लिए तब तक गुप्त ही बनी रही जब तक उसका प्रथम पुत्र द्रुह्यु नहीं उत्पन्न हुआ। शर्मिष्ठा को प्रथम पुत्र उत्पन्न होने का समाचार जब देवयानी को मिला तब वह अमर्ष से जल उठी और स्वयं दौड़ी हुई शर्मिष्ठा के निवास स्थान पर जाकर उससे इस पुत्रोत्पत्ति का वृतान्त पूछते हुए कहा—'शर्मिष्ठे! तूने मेरी दासी होकर भी यह छलपूर्ण पापकर्म क्यों किया है?'

शर्मिष्ठा ने मुस्कारते हुए देवयानी के अविश्वास को दूर करने वाली विनयभरी वाणी में कहा—'शुचिस्मिते। मैंने एक वेद के पारंगत ऋषि से धर्म-रक्षा के लिए पुत्र-रत्न प्राप्त किया है। तुम स्त्रियों के धर्म का रहस्य जानती हो, तुम ही बताओ कि मैं भला क्या करती? सहज स्त्री-धर्म की मर्यादा की मैंने जहाँ तक रक्षा की है, वह कम नहीं है।'

देवयानी का अमर्ष शान्त हो गया। उसने सान्त्वना भरी वाणी में प्रथम बार शर्मिष्ठा को सुखी बनाते हुए कहा—'शर्मिष्ठे। यदि ऐसी ही बात है तो इसके लिए मेरे हृदय में कोई द्वेष या अमर्ष नहीं है। तुम्हारा पुत्र चिरंजीवी हो।'

देवयानी चली गयी और अपने अनन्त सुख तथा वैभव से पूर्ण प्रासाद में प्रमाद की ऐसी प्रगाढ़ निद्रा में वह सो गई कि अब शर्मिष्ठा की ओर से उसकी रही-सही आशंका भी निमूल हो गयी। और इधर धीरे-धीरे शर्मिष्ठा के गर्भ से देवताओं के समान परम तेजस्वी दो बालक और उत्पन्न हुए। उसके तीनों पुत्रों के नाम द्रुह्यु, अनु और पूरु रखे गए। शर्मिष्ठा ने पूर्ववत् इन तीनों पुत्रों की उत्पत्ति उसी वेदों के पारंगत ऋषि के द्वारा प्रसिद्ध की, जिसकी चर्चा वह देवयानी से प्रथम बार कर चुकी थी।

इधर देवयानी को भी दो देवोपम पुत्र उत्पन्न हुए थे, जिनका नाम यदु और तुर्वसु रखा गया था। देययानी को अभी तक शर्मिष्ठा के तीनों पुत्रों को देखने का अवसर नहीं मिला था। अन्तःपुर में शर्मिष्ठा की सहस्रों दासियों एवं सखियों के बीच वह ऐसी घिरी रहती थी कि उसे इस ओर कभी जाने का अवकाश ही नहीं मिल पाता था। एक दिन उसके हृदय में यह लालसा जगी कि—'चलकर शर्मिष्ठा के पुत्रों को देख आऊँ। कुछ भी हो, शर्मिष्ठा मेरी बाल सखी है। उसकी एक साधारण भूल से मैंने उसे जितना कठोर दण्ड दे दिया है, वही पर्याप्त है। अब जब कि वह किसी ऋषि द्वारा अपने मनोरथ सिद्ध कर चुकी है तब उसे पूर्ववत् अपमानित करना उचित नहीं है। आज उसके निवासस्थान पर चलकर उसे सम्मानित करूँगी।'

सद्बुद्धि के इस शुभ्र प्रकाश में किंचित् सुप्रसन्न होकर देवयानी जब शर्मिष्ठा के निवास-कक्ष की ओर चली तो अकस्मात् उसकी दाहिनी भुजा

फड़क उठी। आसन्न अमंगल की एक भयंकर रेखा उसके हृदय और मस्तिष्क पर आकर उत्कीर्ण हो गयी और वह समझ गई कि विधाता ने अवश्य ही उसके इठलाते भाग्य के साथ फिर से कोई क्रूर रचना की है।

थोड़ी देर रुककर धड़कते हुए हृदय से देवयानी ने ज्यों ही दासियों के भवन की पौर में पैर रखा त्यों ही दूर से सम्राट् के विहंसते हुए स्वर की भनक उसके सतर्क कानों में पड़ी। कुछ आगे बढ़कर उसने देखा कि वहाँ स्वयं सम्राट् ही विराजमान हैं और शर्मिष्ठा के तीनों देवताओं के समान सुन्दर बालक उनके चारों ओर प्रसन्नता में भरे हुए खड़े हैं। शर्मिष्ठा सम्राट् को अपने ही हाथों से जलपान सामग्री दे रही है और सम्राट् मुस्कराते हुए उसकी ओर अपलक देख रहे हैं। देवयानी ने यह भी देखा कि शर्मिष्ठा का सुन्दर शरीर एवं मनोमोहक यौवन सम्राट् के इस पावनप्रेम की अविरल धारा में स्नान कर निखर उठा है और इस क्षण वह सचमुच इन्द्राणी के सौन्दर्य को तिरस्कृत कर रही है। शर्मिष्ठा के तीनों पुत्र इन्द्रपुत्र जयन्त से भी बढ़कर तेजस्वी और सर्वाङ्ग सुन्दर हैं। और महाराज ययाति तो उसके अपने कक्ष में इतने सुप्रसन्न और सुन्दर कभी दिखाई ही नहीं पड़े हैं। अनन्त सुषमा, सुख, उल्लास और अविचल प्रेम की इस अतुलनीय समृद्धि को देखकर द्वेषबुद्धि देवयानी के कलुषित हृदय में प्रचण्ड ईर्ष्याग्नि तत्क्षण जल उठी। कण्ठ कुण्ठित हो गया और उसकी विशाल आँखों में अमर्ष की चिनगारियाँ उछलने लगीं। उसे सहसा यह विश्वास ही नहीं हुआ कि ऐसा कुकाण्ड उसके अन्तःपुर में भी संभव है, किन्तु उसने पुनः चेतना धारण करके जब फिर से उन्हीं दृश्यों का अवलोकन किया तो अविश्वास की कोई स्थिति नहीं रह गयी। किसी प्रकार काँपते हुए शरीर को अपने वश में रखकर वह ययाति और शर्मिष्ठा के उस प्रेम-प्रवाह-स्थल पर विघ्नों की भयंकर मूर्ति के समान आकर हाँफती हुई खड़ी हो गयी।

देवयानी को इस रूप में वहाँ उपस्थित देखते ही ययाति का सुन्दर शरीर क्षणभर में ही सूख गया। वाणी अवरुद्ध हो गयी और भावी विपदा की कुकल्पना में आहत हृदय को संभालना भी उनके लिए बड़ा कठिन बन

गया । किन्तु शर्मिष्ठा अविचल थी और उसके तीनों देवोपम पुत्र अपरिचिता देवयानी की भयभीत मुखमुद्रा का उपहास-सा करते हुए उसकी ओर सस्मित मुख अपलक देख रहे थे।

देवयानी थोड़ी देर तो चुप ही रही क्योंकि अमर्ष एवं क्रोध के उस प्रचंड वेग में स्थिति प्राप्त करना उसकी वाणी के वश में भी नहीं था । थोड़ी देर तक उन मनोहर बालकों की ओर विषभरी दृष्टि से देखते हुए उसने कठोर स्वर में पूछा—'पापिनी शर्मिष्ठे । तू ने मेरे साथ बड़ा छल किया है । क्या ये तीनों बालक किसी ब्राह्मण के हैं, जैसा कि तुमने मुझे बताया था ।'

देवयानी का स्वर इतना प्रचण्ड था और मुखमुद्रा इतनी भयंकर थी कि वे तीनों बालक विस्मित होकर ययाति के समीप पहुँच गए । उस समय वे तीनों अपनी शारीरिक कांति से ययाति के नवयौवन का स्मरण दिला रहे थे । उन्हें देखकर देवयानी का रहा-सहा सन्देह जाता रहा । वह झंझा के प्रचण्ड वेग की भांति अपने विकराल नेत्रों और क्रूर मुखाकृति से ययाति के रहे-सहे धैर्य को झकझोरती हुई पुनः बोल उठी—

'अधर्म परायण ! तुम व्यर्थ ही संसार में धर्मज्ञ और मर्यादारक्षक की विरुदावली धारण करनेवाले सम्राट् बने हो । तुम्हारा हृदय अत्यन्त क्रूर और कुटिल है । और मैं मानती हूँ कि तुम्हारे समान छली और कामी कोई दूसरा सम्राट् इस धरती पर नहीं हुआ होगा । तुमने मेरे तेजस्वी पिता के सम्मुख भरी सभा में की गयी प्रतिज्ञा का तृणवत् भी सम्मान नहीं किया । तुमने कहा था कि—शर्मिष्ठा और उसकी दासियों से तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं रहेगा । किंतु तुमने मुझसे भी बढ़कर शर्मिष्ठा को प्रेम-दान किया है । इसका प्रत्यक्ष प्रमाण तो यही है कि तुमने इस हतभागिनी से तीन पुत्र उत्पन्न किए जब कि मुझसे केवल दो ही पुत्र उत्पन्न हुए हैं । अस्तु । अब मैं तुम जैसे झूठे, छली, कामुक और मिथ्याचरणरत के संग एक क्षण भी नहीं रहना चाहती । मैं तुझे और तेरे पुत्रों को छोड़कर अपने पूज्य पिता के घर जा रही हूँ और अब जीवन भर तुम्हारा कलंकी मुख नहीं देखना चाहूँगी ।'

क्रोधावेश में विह्वल देवयानी इतनी बातें कहकर सिसकती हुई क्रुद्ध सर्पिणी की भांति ययाति के अन्तःपुर से निकलकर पैदल ही अपने पिता के आश्रम की ओर चल पड़ी। ययाति ने बहुतेरी प्रार्थना की, क्षमा-याचना की, अनुनय-विनय किया, किंतु सब का फल विपरीत ही हुआ। देवयानी का प्रचण्ड क्रोध उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया और उसके क्रुद्ध मुख से निकलने वाले कुवाच्यों की रचना भी उग्रतर होती गयी। वह नहीं लौटी और वायु के समान तीव्र वेग से शीघ्र ही अपने पिता के पुनीत आश्रम में दावाग्नि की भाँति पहुँच गई। उसी के पीछे-पीछे लगे हुए ययाति भी सशंक हृदय से शुक्र के आश्रम में कुछ क्षण बाद किन्तु साथ ही पहुँचे।

देवयानी ने पहुँचते ही अपने प्यारे पिता आचार्य शुक्र को जब ययाति के अन्तःपुर की उस दुर्घटना का दुःसंवाद सुनाया तो उनका तपःतेज भी खर्वित हो गया। वृद्धावस्था में वत्सलता की मर्यादा दूषित हो जाती है और जब संयोग से सन्तान एकाकिनी और मुँहलगी होती है तब तो इस विषय में कुछ मर्यादा ही नहीं रह जाती। देवयानी के करुण अश्रुप्रवाह, अपमान, छलना और दुःखावेग को देखकर आचार्य शुक्र विचलित हो गए। उनकी वृद्ध आंखें क्रोध से जाज्वल्यमान हो गयीं। झुर्रियों से विगलित एवं श्वेत-श्मश्रु मण्डित मुखमण्डल नासिका के छिद्रों से निकलने वाली गरम श्वासों के प्रवेग से धूमिल हो उठा। वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर कुछ कहना ही चाहते थे कि अपने भयकातर विशाल नेत्रों से अनुताप के अश्रु विमुंचित करते हुए दीन मुख ययाति भी उन्हें दिखाई पड़ गए। ययाति को देखकर धूमाविल अग्नि पर घृत को धारा पड़ने के समान आचार्य शुक्र कियत्काल के लिए तो पुनः स्तब्ध हो गए, किन्तु क्षण भर बाद ही अपराध की महत्ता के स्मरण से उद्दीप्त होकर वे अति भयंकर बन गए। नेत्रों और वाणी से अग्नि की वृष्टि करते हुए के समान वे काँपते हुए स्खलित स्वर में बोले—

—'अधम ययाते! तू ने मेरी कन्या के साथ भयंकर छल किया है। पापात्मन्! काम के पाश में बँधकर तुमने मेरे सम्मुख भरी सभा में की हुई प्रतिज्ञा को भी भुला दिया। जाओ! इस क्रूर अपराध के बदले तुम्हें

अभी दुर्जेय वृद्धावस्था के चंगुल में जीवन भर के लिए फँसना पड़ेगा और तुम्हारी यह काम-शान्ति अनेक जन्म तक भी नहीं संभव होगी।'

आचार्य शुक्र की इस विषदग्ध वाणी ने उस समूचे आश्रम में जैसे आग लगा दी। क्षण भर पूर्व नूतन किसलयों से लदी वृक्षों की लहलहाती हुई हरी-भरी शाखाएँ एवं बल्लरियाँ झुलसकर जैसे काली हो गयीं। उनके मनोहर कुसुम कुम्हलाकर नीचे गिर गए। फल सूख गए। भ्रमरों की पंक्तियाँ भनभनाती हुई भाग खड़ी हुईं। पक्षीगण आश्रम में दावाग्नि का सा यह दृश्य देखकर भयभीत होकर करुण स्वर करते हुए आकाश में उड़ने लगे। वन्य पशु भयभीत होकर चिल्लाते हुए भागने लगे। पर्वतों की गुफाएँ भीषण चीत्कारों से भर गईं और दिग्गजों के डगमगाने से दिगन्त भयविह्वल हो गया। सम्पूर्ण क्षितिज में आग की लपटें दिखाई पड़ने लगीं। और इधर सम्राट् ययाति का सुन्दर युवा शरीर क्षण भर में ही जाने कहाँ विलुप्त हो गया और उसके स्थान पर एक वृद्ध की करुणापूर्ण काया खड़ी दिखाई पड़ी। उनके चरणों में न तो चलने की शक्ति थी और न वाणी में बोलने की। श्वेत केशों की उलझी हुई जटाएँ मूल तक श्वेत हो चुकी थीं और मुख में दांतों के रिक्त गह्वर भी भर चुके थे। क्षण भर में ही यह सारी दुर्घटना हुई। विकम्पिता देवयानी ने आश्चर्य से देखा कि उसका कमनीय कान्त उसके पितामह की भाँति जराग्रस्त होकर उसकी ओर करुणापूर्ण आँखों से निहार रहा है। प्रकृति के कोमल कमनीय उपादानों में इस भयंकर परिवर्तन का वीभत्स दृश्य देखकर देवयानी स्वयं भी कांप उठी। उसे इस कुकाण्ड की कल्पना भी नहीं थी। चारों ओर के इन भयंकर दृश्यों को देखने में अशक्त होकर उसने अपनी आँखें मूँद लीं और दोनों घुटनों के बीच शिर डालकर चुपचाप बैठ जाने में ही निज का कल्याण समझा।

थोड़ी देर के बाद आचार्य की इच्छा से आश्रम का दृश्य जब पुनः परिवर्तित होकर पूर्ववत् हो गया तब ययाति की उस जर्जरित करुण काया से यह स्खलित वाणी फूटी।

'पूज्यतात! आपने मेरी एक भी बात नहीं सुनी और बिना मेरे

अपराध की मीमांसा किए ही यह दुर्जेय दण्ड मुझ पर लगा दिया। हन्त! मैंने शर्मिष्ठा के साथ जो कुछ किया है, उसकी अनुज्ञा धर्मशास्त्रों एवं ऋषियों ने ही दी है। यदि वे सब शास्त्र और ऋषियों-मुनियों के वचन झूठे हैं तो मुझे ऐसा कठोर दण्ड अवश्य मिलना चाहिए। किन्तु यदि उनमें तनिक भी सत्य का बल है तो आप के लिए मुझे ऐसा कठोर दण्ड देना उचित न होगा।'

ययाति की यह मर्मभरी वाणी सुनकर भी आचार्य शुक्र अविचलित ही रहे। अपने प्रबुद्ध स्वर में वे तुरन्त बोले—'ययाते! मनुष्य का अपनी प्रतिज्ञा का पालन करना सभी शास्त्रों एवं मुनिवचनों से बढ़कर कठोर धर्म है। उचित हो या अनुचित, यदि मनुष्य ने जीवन में कोई प्रतिज्ञा कर ली है तो प्राणों के रहने तक उसका पालन करना ही उसका परम धर्म है। तुमने भरी सभा में मेरे साथ की गई अपनी प्रतिज्ञा को भंग किया है, अतः इस सम्बन्ध में शास्त्र और ऋषियों-मुनियों के वचन तुम्हारी रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ रहेंगे।'

आचार्य शुक्र और ययाति के इस सम्भाषण में कुछ अनुकूलता अनुमानित कर देवयानी की भयविह्वल आँखें खुल गईं और वह उठकर खड़ी हो गई। उसने देखा—चारों ओर का भयंकर प्राकृतिक दृश्य तो अब पूर्ववत् सुदर्शन बन गया है, किन्तु उसके प्राणप्रिय कांत ययाति की दुरवस्था अभी पूर्ववत् ही बनी हुई है। ययाति के प्रति भरी हुई उसके हृदय की घृणा उनकी यह दुर्दशा देखकर अब शनैः-शनैः करुणा में बदल रही थी। क्रोध से जलती हुई उसकी आँखों एवं हृदय में अनुताप की आर्द्रता आ रही थी और वह मन ही मन अपने पिता के उग्र क्रोध की ज्वाला को शान्त हो जाने की कामना करने लगी थी।

ययाति ने फिर कहा—'पूज्य आचार्य! धर्म के गूढ रहस्यों के भ्रम में पड़कर ही मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ी है अतः मैं क्षमा का पात्र हूँ। मेरा अपराध क्षमा किया जाय। तात! अभी मैं प्रौढ वय का था, संसार के विषय-सुखों का यथेष्ट उपभोग न करने के कारण मेरा मन अभी अशान्त बना

हुआ है। देवयानी मेरी प्राणप्रिया है, उसके प्रति किए गए अपराधों की मैंने उससे क्षमा याचना भी की है और आपसे भी कर रहा हूँ। अतः आप इस कठोर दण्ड के द्वारा मेरा उभय लोक नष्ट न करें। प्रभो! मैं आपकी शरण में हूँ और जैसे भी हो मेरी इस संकट से आप रक्षा करें।'

ययाति के स्वर में कम्पन, विनयशीलता और सत्यता की ऐसी करुण-धारा थी कि उसके वाक्य के पूरा न होते ही भग्नहृदया भावुक देवयानी फूट-फूटकर रोने लगी और आचार्य शुक्र अपने भयंकर क्रोध की ज्वाला में स्वयं अनुतप्त-से होने लगे। थोड़ी देर स्तब्ध रहकर वे अपनी सहज धीर गंभीर वाणी में पुनः बोले—'वत्स ययाते! मैं विवश हूँ। मेरी वाणी अब अन्यथा नहीं हो सकती। तुम्हें इस दुर्जेय जरा का बोझ तो अब जीवन भर ढोना ही पड़ेगा। किन्तु तुम्हारी प्रार्थना और देवयानी की भावुकता से मेरा भी हृदय भर आया है। मैं तुम्हें इतनी सुविधा प्रदान करता हूँ कि यदि तुम चाहोगे तो किसी नवयुवक से अपनी इस वृद्धावस्था को परिवर्तित कर उसकी युवावस्था का उपभोग कर सकोगे। और इस प्रकार जीवन में विषय सुखों की लिप्सा को शान्त करने की सीमित अवधि तुम्हें प्राप्त हो जायगी।'

ययाति ने हाथ जोड़कर आचार्य शुक्र के इस अनुग्रह को शिरसा स्वीकार किया और विनय भरी वाणी में पुनः निवेदन किया—'पूज्य तात! आपके इस अनुग्रह को मैं इस भयंकर विपत्ति में एक वरदान ही समझता हूँ, किन्तु मेरी यह प्रार्थना और भी है कि जो कोई व्यक्ति मुझ हतभाग्य को अपनी परमप्रिय युवावस्था प्रदान करे, वही मेरे साम्राज्य का उत्तराधिकारी एवं मेरे पुण्यों का उपभोक्ता भी हो। मेरी इस इच्छा की पूर्ति के लिए भी आप कृपया अनुमति दें।'

आचार्य ने ययाति की इस सदिच्छा को स्वीकार कर अनुमति दे दी और देवयानी तथा ययाति को, विधि के इस अदृश्य विधान के कारण बढ़े हुए शोक को कम करने वाली अनेक पुरानी कथाएँ कह सुनायीं और आश्वासन दिया।

कुछ दिनों तक शुक्र के आश्रम में, उनके अनुरोध पर टिककर अपने

दुःखों को कम करके देवयानी और ययाति अपनी राजधानी को वापस लौट आए। तब तक सम्पूर्ण धरती पर सम्राट् ययाति की इस दुर्दशा की कहानी फैल चुकी थी और सर्वत्र उनके प्रति सहानुभूति और करुणा प्रकट की जा रही थी। ययाति की जरा का भयंकर दुःख देवयानी को भी कम नहीं था। वह उनकी जरा को तत्क्षण ही युवावस्था में परिवर्तित देखना चाहती थी किन्तु राजधानी में आने पर स्वयं उसी के पुत्र यदु और तुर्वसु ने माता पिता की आज्ञा एवं प्रार्थना को ठुकरा कर ययाति को अपनी सर्वप्रिय युवावस्था देने से स्पष्ट इनकार कर दिया। तदनन्तर देवयानी की सलाह से ययाति ने शर्मिष्ठा के तीनों पुत्र—द्रुह्यु, अनु और पूरु के सम्मुख इस कठिन प्रस्ताव को उपस्थित करने का निश्चय किया। शर्मिष्ठा के दोनों ज्येष्ठ पुत्र—द्रुह्यु तथा अनु ने भी ययाति के अनुरोध को ठुकरा दिया किन्तु सबसे कनिष्ठ पुत्र पूरु ने अपने पूज्य पिता ययाति की कामनाओं को आदर देते हुए कहा—

'मेरे पूज्य तात ! मैं आपकी आज्ञा को स्वीकार कर आपकी इस दुर्जय जरा को अपने शरीर से ढोकर आपके समस्त पापकर्मों का फल भोगने के लिए सन्नद्ध हूँ। आप मेरी यह नवयौवनावस्था लेकर संसार के समस्त भोगों का उपभोग करें। मेरे आराध्य ! आपकी इस प्रिय इच्छा का पालन करने में तो मुझे अपने जीवन को सार्थक करने का सुअवसर ही मिल रहा है।'

पूरु की अमृतसिक्त वाणी ने देवयानी, शर्मिष्ठा और ययाति के निराश हृदयों में आनन्द की चंचल लहरें पैदा कर दीं। ययाति ने आचार्य शुक्र का स्मरण करके पूरु के यौवन से अपनी जरा का परिवर्तन कर लिया। देखते ही युवक पूरु का सुभग शरीर ययाति के समान असमर्थ एवं जर्जरित होकर काँपने लगा और वृद्ध ययाति पूरु के समान त्रिभुवन-विमोहक रूप एवं यौवन से चमक उठे। सम्राट् ययाति के इस विपदा-मुक्ति के सुसंवाद को सुनकर समूची धरती ने मुक्त कंठ से मङ्गलगान किया और महोत्सव मनाया। देवयानी और शर्मिष्ठा ने भी अपने अनन्त सुख की इस पुण्यबेला में एक दूसरे को गले लगाया और जीवन भर की संचित दुर्भावनाओं को

आँसुओं के मार्ग से निकाल कर पूर्ववत् सुखी बन गईं। सम्राट् के हृदय की जीवनव्यापिनी कुण्ठा समाप्त हो गयी और उसने अपने प्राणप्रिय पुत्र पूरु को उठाकर हृदय से लगाते हुए साश्रुनयन एवं गद्गद् कण्ठ से यह आशी-वचन कहा—

—'परमभाग्यशालिन्! तुमने पुत्रधर्म की वह महती मर्यादा स्थिर की है, जो अभी तक त्रैलोक्य में अनुपम रही है। वत्स! तुम धरती के यशस्वी सम्राट् होगे और तुम्हारी सन्तानें सब प्रकार की सम्पदाओं से सुसम्पन्न होंगी।'

इस प्रकार सम्राट् ययाति ने अपने कनिष्ठ पुत्र पूरु की युवावस्था का लंबेकाल तक यथेष्ट उपभोग किया। पुराणों का कथन है कि इस युवावस्था को प्राप्त कर धरती का उसने सब प्रकार से ऐसा पालन-पोषण किया जैसा अब तक किसी भी सम्राट् ने नहीं किया था। विषय-सुखों की यथेष्ट भोगेच्छा को संतृप्त कर वह निर्विकार बन गया। अंततः संसार की अनित्यता का अनुभव करते हुये उसके हृदय में विरक्ति का अनुराग स्वयमेव उत्पन्न हो गया। उसने मन्त्रियों की सम्मति से शुभ मुहूर्त में राज्याभिषेक का एक महान् उत्सव रचा और समस्त प्रजा की अनुमति से अपनी जरावस्था को पुनः वापस लेकर तथा युवक पुरू को सम्राट् बनाकर अन्य ज्येष्ठ पुत्रों को साम्राज्य से वंचित करने का धर्मयुक्त निर्णय किया।

किन्तु भाग्यशाली पूरु ने अपने पिता से अनुमति प्राप्त कर अपने ज्येष्ठ भ्राता यदु, तुर्वसु, अनु और द्रुह्यु को भी चारों दिशाओं में सीमांत के राज्य प्रदान करवाये और तदनन्तर पिता द्वारा प्राप्त साम्राज्य का अभिषेकोत्सव विधिवत् सम्पन्न किया।

इस प्रकार एक महान् पिता के यशस्वी पुत्र ने माता, पिता एवं ज्येष्ठ भाइयों के साथ अपने परम कर्तव्य-पालन की अविनश्वर एवं पुण्यप्रद मर्यादा स्थिर कर धरती का धर्मपूर्वक पालन किया। उसकी पुण्यकथा का यह पावन-प्रवाह सैकड़ों रूपों में हमारे प्राचीन साहित्य की भूमिका का आज भी सिंचन कर रहा है।

अष्टावक्र और बन्दी

कहोड़ मुनि के पुत्र अष्टावक्र का जीवन कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। उनका शरीर इतना टेढ़ा-मेढ़ा तथा अशक्त था कि यदि उनमें त्रैलोक्य-दुर्लभ विद्या का निवास न होता तो उन्हें कोई भी आदर न देता। अत्यन्त अशोभन, क्रूर तथा दर्शनमात्र से कुरुचि उत्पन्न करने वाले उनके अंग-प्रत्यंगों को बिगाड़कर विधाता ने जो अपराध किया था मानों उसी के शोधन के लिए सरस्वती ने उन्हें अपना सर्वस्व समर्पित कर दिया था। अष्टावक्र पर सरस्वती की अपार कृपा थी। उनके समान प्रगल्भ पाण्डित्य और प्रखर प्रतिभा किसी दूसरे व्यक्ति को नहीं मिली थी। यदि कोई उनका थोड़ा-बहुत सामना कर सकता था तो वह थे उन्हीं के सगे मामा तथा समवयस्क उद्दालक पुत्र श्वेतकेतु। अष्टावक्र और श्वेतकेतु के सम्बन्ध में उनके सामयिक पण्डितों की धारणा थी कि—भगवती सरस्वती के ये दोनों ही लाड़ले बेटे हैं। अष्टावक्र की विद्वत्ता की कहानी संक्षेप में इस प्रकार है।

महर्षि उद्दालक का अपने समय में समस्त भूमण्डल पर बड़ा मान था। वे जैसे उच्चकोटि के तत्ववेत्ता, विचारक तथा मंत्रद्रष्टा थे वैसे ही परम कृपालु तथा परोपकारी भी थे। विद्या, प्रतिभा, विवेक, करुणा और कृपा के अगाध समुद्र। उद्दालक के आश्रम में देश-विदेश के सहस्रों छात्र विद्याध्ययन करते थे और उन सब पर महर्षि का अगाध स्नेह था किन्तु उनका अविरल प्रेम अखण्ड सेवाव्रती तथा परम सुशील पितृमातृविहीन ब्राह्मणकुमार कहोड़ पर विशेष था। उसका कारण यह था कि कहोड़ भीतर और बाहर से एक समान सुन्दर, निश्छल, परिश्रमी, परोपकारी, सत्यवादी तथा तपस्या एवं साधना में निरत रहने वाले विद्यार्थी थे। उनकी जैसी विद्या और विनयशीलता अन्य छात्रों में नहीं थी। उज्ज्वल चरित्र की आराधना में भी वह गुरुमुख से प्राप्त विद्या की भाँति सच्चा मन लगाते थे।

वेदों और शास्त्रों के समग्र अध्ययन को समाप्त कर लेने के बाद भी अन्य शिष्यों की भाँति वह अपने गुरु के आश्रम से नहीं गये थे क्योंकि उनकी अभिलाषा थी कि जिस पितृतुल्य गुरु के आश्रम में जीवनदायिनी विद्या की प्राप्ति हुई है उसी की तन-मन से सेवा करने में जीवन को क्यों न व्यतीत किया जाय ? वेदों और शास्त्रों के सम्यक् अध्ययन और परिशीलन के अनन्तर उन्होंने अपने आचार्य उद्दालक के शिष्यों का अध्यापन शुरू कर दिया और शनैः-शनैः आचार्य की पदवी स्वयं भी प्राप्त कर ली। किन्तु अपने सहस्रों शिष्यों के रहते हुए भी उद्दालक की सेवा-शुश्रूषा में वह अब भी उसी प्रकार से दत्त-चित्त रहते थे जिस प्रकार से अपने विद्यार्थी-जीवन के आरम्भिक काल में थे।

उद्दालक पर कहोड़ की विद्या, विनयशीलता और सेवा-भावना का अमोघ प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपनी प्रिय पुत्री सुजाता का विवाह कहोड़ के साथ सम्पन्न कर दिया और अपने आश्रम से अनतिदूर कहोड़ और सुजाता के लिए भी एक नूतन आश्रम की रचना करा दी। अब तो कहोड़ उनके प्रिय पुत्र और उत्तराधिकारी की भाँति उनके आश्रम की सम्पूर्ण व्यवस्था के सुदृढ़ स्तम्भ बन गये। अटूट साधना और निष्ठा के प्रभाव से उत्तरोत्तर उनकी विद्या अत्यधिक फलवती और प्रशस्त होती गई और धीरे धीरे उद्दालक के समान ही उन्हें भी लोक-प्रतिष्ठा प्राप्त हो गई।

सुजाता और कहोड़ के सुखमय जीवन को देखकर महर्षि उद्दालक फूले नहीं समाते थे। किन्तु इसी बीच कुछ ऐसी दुर्घटनाएँ हुईं कि उद्दालक का आश्रम शोक-सन्ताप से भर गया। सुजाता गर्भवती थी। उसका तेजस्वी गर्भ उदर में ही इतना ज्योतिष्मान् था कि उद्दालक और कहोड़ दोनों उसके भावी जीवन का सुखद-स्वप्न देख रहे थे। अग्नि-शिखा के समान तेजस्विनी सुजाता भी अपने गर्भ का महत्त्व समझती थी। वह प्रतिदिन शास्त्रोक्त आचारों का पालन करती थी और ऐसी सभी धार्मिक क्रियाओं का सदनुष्ठान करती थी, जिनके द्वारा उसकी भावी सन्तति का कल्याण हो। कहोड़ और उद्दालक भी इस ओर सचेष्ट थे किंतु क्रूर विधाता उनके दुर्भाग्य की रचना करने में असावधान नहीं था।

एक दिन कहोड़ अपने शिष्यों को वेदमंत्रों की व्याख्या बतला रहे थे। सभी शिष्य सावधान चित्त से कहोड़ की शिक्षा को हृदयंगम कर रहे थे। आसन्नप्रसवा सुजाता कहोड़ के अध्यापनकक्ष से अनतिदूर किसी कार्य में दत्तचित्त थी। अतः कहोड़ का चित्त कुछ चंचल था। वे मुख से यद्यपि वेदमंत्रों की व्याख्या करते जा रहे थे तथापि उनके चित्त में सुजाता के आसन्न गर्भ की चिंता थी। उसके उत्तरोत्तर गिरते हुए स्वास्थ्य का ध्यान था। फलतः प्रमादवश व्याख्या करते समय उनके मुख से कुछ त्रुटियाँ निकल पड़ीं। इन्हीं वेदमंत्रों की जो व्याख्या पहले किसी दिन वे स्वयं बता चुके थे उससे कुछ भिन्न व्याख्या वे आज करने लगे थे। शिष्य-मण्डली इतनी ध्यान-मग्न थी कि व्याख्या की यह च्युति किसी की पकड़ में भी नहीं आ सकी। किन्तु इसी बीच कुछ विचित्र शब्द हुआ। सुजाता जिस ओर बैठी थी उधर से ही यह शब्द सुनाई पड़े।

'पूज्य तात! आपकी यह व्याख्या अशुद्ध हो रही है। कृपया सावधान होकर इसे संभालिए अन्यथा इस बृहत् शिष्य-मण्डली द्वारा फैलायी गई यह अशुद्ध व्याख्या वेदमंत्रों के उपहास का कारण बनेगी।'

इस अशरीरिणी किंतु प्रगल्भ वाणी को सुनकर कहोड़ चकित रह गए। शिष्यमण्डली स्तब्ध रह गई और सुजाता विकम्पित होकर मूर्च्छित-सी हो गई। गर्भस्थ शिशु की ऐसी वाणी को सुनने की चर्चा भी उसने नहीं सुनी थी। उधर कहोड़ की विचित्र मनोदशा थी। जिस शिष्य-मण्डली में उनका देवोपम सम्मान था, उसमें होने वाले इस निर्मम अपमान से वे अत्यन्त कुण्ठित और क्षुब्ध रह गए। उनकी चिरकाल की तपस्या और शील-साधना विचलित हो गई। अदृष्ट ने उन्हें इतना क्रोधोन्मत्त कर दिया कि वे सहसा चिल्लाते हुए बोल पड़े—'अभागे शिशु! तुम अभी उदरस्थ होकर भी मेरा ऐसा अपमान कर रहे हो तो जन्म लेकर तो तुम मुझे जीवन भर जलाना ही चाहोगे। मैंने जीवन भर कभी किसी का अपमान नहीं किया है और न कभी किसी दूसरे ने ही मेरा अपनमान किया है किंतु आज तुमने मेरा अत्यन्त गर्हित अपमान किया है। इस घृणित अपराध का दण्ड तो

तुम्हें भोगना ही पड़ेगा। तू गर्भ में ही आठ अंगों से टेढ़ा-मेढ़ा हो जायगा और कभी पुनः मेरा अपमान करने का अवसर तुझे नहीं लगेगा।'

विष की दाहक ज्वाला के समान कहोड़ के शाप की यह कठोर वाणी उनके तथा समीपवर्ती महर्षि उद्दालक के आश्रम को तत्क्षण जलाने लगी। चतुर्दिक अपशकुन होने लगे। दिशाएँ धूल से धूसरित हो गईं। अमांगलिक पशु-पक्षी अकाल में ही रुदन करने लगे। सूर्य की ज्योति मन्द हो गई और पृथ्वी कांपने लगी। कहोड़ को स्वयं अपने इस दुःस्वभाव पर विस्मय होने लगा, किन्तु अब उनके वश में था ही क्या? जिस शापमयी वाणी का वे विषदग्ध बाण की भाँति सन्धान कर चुके थे उसे निवारित करने की शक्ति विधाता में भी नहीं थी। शिष्यों की मण्डली चतुर्दिक होने वाले इस अपशकुन को देखकर स्तब्ध और दुःखी होकर आँसू बहाने लगी और उधर सुजाता के उदर में प्राणघातिनी पीड़ा आरम्भ हो गई। संयोग की बात। उन्हीं दिनों सुजाता की माता भी गर्भिणी थीं। पुत्री की प्राणघातिनी पीड़ा का दुःसंवाद सुनकर वे जब महर्षि उद्दालक के साथ उसके समीप आईं तो कहोड़ के शाप का समाचार उन्हें भी ज्ञात हुआ। किन्तु किसी के वश में कुछ नहीं था। बड़े-बड़े शान्ति के उपाय किए गए, देवाराधन हुआ, यज्ञानुष्ठान किए गए, स्वस्त्ययन और मांगलिक मंत्रों के अखण्ड पारायण किए गए, स्वल्प यज्ञादि किए गए, तब कहीं सुजाता के प्राण बचे। किन्तु अभी गर्भ का समय पूरा नहीं हुआ था, यद्यपि नौ मास पूरे हो चुके थे।

दसवाँ महीना जब आरम्भ हुआ तो सुजाता ने एक दिन कहोड़ से कहा—'देव! आश्रम में गृहस्थी को चलाने वाली सामग्री का अभाव है। इतना भी साधन नहीं है कि मैं अपने प्रसवकालीन संकटों से भी मुक्ति पा सकूँ। अतः प्रसव से पूर्व थोड़ी बहुत धन-सम्पत्ति के संचय का कुछ उपाय करना आवश्यक है।'

सुजाता की इस मार्मिक प्रार्थना ने कहोड़ को अपनी विद्या के प्रभाव से कुछ धन-सम्पत्ति अर्जित करने की प्रेरणा दी। उन दिनों मिथिला में विदेहों के राजा इन्द्रद्युम्न के पुत्र जनक का शासन था। वे स्वयं वेदों

और शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित थे और वेदज्ञ ब्राह्मणों और पण्डितों की शास्त्रार्थ-परीक्षा के बड़े प्रेमी थे। उनकी राजसभा में कुछ वर्षों से न जाने कहाँ से बन्दी नाम का एक विश्वविजयी महान् पण्डित आ गया था। जो कोई विद्वान् राजा जनक के दरबार में जाता उसका बन्दी से शास्त्रार्थ होता और तभी उसे यथेष्ठ पुरस्कार दिया जाता और पण्डित का अभिनन्दन किया जाता। कहोड़ को अपनी आराधित विद्या पर अगाध विश्वास था। उन्होंने जनक के दरबारी पण्डित बन्दी को पराजित करने की अभिलाषा से मिथिला की ओर प्रस्थान किया।

बन्दी अत्यन्त दुरभिमानी पण्डित था। उसकी तर्क-शैली और वाग्मिता का आतंक समूचे देश के पण्डित-समाज पर छा गया था। उसका शास्त्रों का अध्ययन और परिशीलन जितना गहन था उतनी ही उसकी प्रतिभा तथा तेजस्विता भी अमन्द थी। उसके विशाल शरीर की कान्ति अनुपम थी। प्रतिद्वन्द्वी तो उसके दर्शनमात्र से हतप्रभ हो जाते थे। किन्तु इन सब विशेषताओं के साथ बन्दी में जो सबसे बड़ा दुर्गुण था, वह था उसका क्रूर और कुटिल स्वभाव। अपने आप उससे अपनी पराजय स्वीकार कर लेने वाले पण्डितों को तो वह पुरस्कार दिलवा देता था किन्तु जो उससे शास्त्रार्थ करके पराजित होते थे उन्हें अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता था। बन्दी के दुराग्रह से ही राजा जनक ने यह घोषणा कर दी थी कि—जो कोई बन्दी को शास्त्रार्थ में पराजित करेगा वही हमारा राज-पण्डित होगा और बन्दी को जल में डुबो दिया जायगा। किन्तु जो पराजित होगा उसे भी जल में डुबो कर मार दिया जायगा। बन्दी के इस शास्त्रार्थ में अनेक पण्डितों को जल-समाधि दी जा चुकी थी। कहोड़ को बन्दी के शास्त्रार्थ की यह शर्त ज्ञात थी; किन्तु उन्हें अपने गम्भीर अध्ययन और पाण्डित्य पर भी अटूट विश्वास था। जनक के दरबार में पहुँच कर उन्होंने बन्दी को शास्त्रार्थ में पराजित करने की घोषणा करा दी।

कहोड़ की अमन्द प्रतिभा तथा प्रगल्भ पाण्डित्य की सूचना बन्दी को भी थी किन्तु उसने शास्त्रार्थ के आरम्भ में ही कुछ ऐसी युक्तियाँ लगा

दीं कि वे हतप्रभ होकर पराजित हो गए और स्वीकृत शर्त के अनुसार उन्हें मिथिला में ही राज-सभा के समीपस्थ सरोवर में जल-समाधि दे दी गई। उनकी इस करुण-मृत्यु का दुःसंवाद जब महर्षि उद्दालक के आश्रम में पहुँचा तो सभी लोग शोक-सागर में निमग्न हो गए। कुछ दिनों पूर्व जिस आश्रम की शोभा, समृद्धि एवं शान्ति की प्रशंसा की जा रही थी वही अब श्रीहीन होकर करुणा के समुद्र में निमज्जित था।

इसी बीच सुजाता के गर्भ से अष्टावक्र का जन्म हुआ। पिता के शाप से दग्ध अष्टावक्र का शरीर इतना असमर्थ तथा कुदर्शन था कि उनका जन्म समूचे परिवार के लिए एक नई विपदा के समान ही समझा गया। महर्षि उद्दालक ने अपने अमोघ मंत्रों के प्रभाव से उनके प्राणों की रक्षा की। धीरे-धीरे अष्टावक्र बड़े हुए। गर्भ काल की वह प्रखर तेजस्विता यद्यपि अब उनके शिशु-जीवन में नहीं थी, पिता के शाप ने उसे भी प्रतिहत कर दिया था, तथापि उद्दालक के शान्ति-प्रयत्नों ने उन्हें पुनर्जीवन प्रदान किया। थोड़े ही दिनों में वह पूर्ववत् पुनः प्रबुद्ध बन गए। अष्टावक्र के साथ ही सुजाता की माता ने भी श्वेतकेतु नामक एक पुत्र को जन्म दिया था। अष्टावक्र और श्वेतकेतु सगे भाइयों के समान आश्रम में रहते थे। महर्षि उद्दालक की इच्छा के अनुसार अष्टावक्र को यह कभी नहीं बताया गया कि उनके पिता कहोड़ की मृत्यु हो चुकी है अथवा श्वेतकेतु उनके भाई नहीं हैं। प्रत्युत उन्हें यही बोध कराया गया था कि महर्षि उद्दालक उनके पिता तथा श्वेतकेतु उनके भ्राता लगते हैं।

महर्षि उद्दालक के अमोघ मांत्रिक पुरश्चरणों से तथा प्रारब्धवश अष्टावक्र और श्वेतकेतु की विद्या अल्पकाल में ही फलवती हुई। बारह वर्ष की अल्पायु में ही उन्होंने सम्पूर्ण वेद-शास्त्र पढ़ डाले। दर्शनों की ग्रंथियाँ सुलझा लीं और ऐसा एक भी विषय नहीं बचा, जिसे उन्होंने अधिगत न कर लिया हो। यद्यपि दोनों को समान विद्या मिली थी और समान पालन-पोषण हुआ था, तथापि अष्टावक्र की तेजस्विता अत्यन्त प्रखर थी। अध्ययन काल में ही वह इतने वाग्गमी, तार्किक तथा प्रतिभाशाली थे कि

अनेक बार महर्षि उद्दालक को भी उन्हें समाहित करने में कठिनाई पड़ गई थी।

किन्तु बाल्यकाल की इस अगाध विद्या का भारी बोझ उन दोनों बालक पण्डितों के शरीर, स्वभाव और अनुभव के अनुरूप नहीं था। उनमें अब भी बाल-सुलभ चंचलता, भावुकता, तथा गम्भीर विचार का अभाव था। एक दिन महर्षि उद्दालक की गोद में सत्कृत अष्टावक्र को खींचकर श्वेतकेतु ने दूर हटाते हुए कह दिया—'इस गोद में बैठने का अधिकार तुम्हें नहीं है, यह मेरे पिता की गोद है, तुम इसमें मत बैठा करो।'

तेजस्वी अष्टावक्र श्वेतकेतु के इस अप्रत्याशित अपमान की कुण्ठा से ऐसे क्षुब्ध हुए कि उन्होंने वहाँ से जाकर अपनी माता सुजाता से अपने पिता की जानकारी न बताने पर भीषण शाप देने का भय दिखलाया। भयभीता सुजाता ने अष्टावक्र से अपने आराध्य पति के उस दुःखदायी निधन की क्रूर-कहानी को उनसे सम्पूर्ण रूप से बतला दिया और यह भी बतला दिया कि—तुम्हारे नाना महर्षि उद्दालक के निषेध करने के कारण ही यह दुःखदायी रहस्य तुमसे आज तक गोपनीय बना रहा।

अपनी माता सुजाता के मुख से पिता के उस दुःखदायी निधन का संवाद सुनकर तेजस्वी अष्टावक्र का कोमल हृदय प्रतिशोध की भावना से इतना आविल हो गया कि वह उस दिन न तो कुछ खा पी सके और न किसी से बोले ही। अपने मन के उस भारी दुःख को दूर करने के उपायों में ही वह लगे रहे। महर्षि उद्दालक को अभी तक इसका कुछ भी पता नहीं था। श्वेतकेतु द्वारा अष्टावक्र के अपमान की चिन्ता उन्हें अवश्य थी किन्तु वे यह नहीं जानते थे कि इसके बाद क्या होगा? बालकों के ऐसे क्षणिक आवेश को वह स्वयमेव शान्त हो जाने की वस्तु मानकर चुप रह गए थे। दिन बीता। रात्रि हुई। अष्टावक्र का शोकदग्ध हृदय रजनी के निविड अन्धकार में और भी प्रदीप्त हो उठा। वह अभी तक निराहार और निर्जल थे, यहाँ तक कि साश्रुनयना माता के सैकड़ों करुण अनुरोधों

और आग्रहों के बाद भी वह टस से मस नहीं हुए। जब रात अधिक बीत गई और आश्रम की सम्पूर्ण चेतना निद्रा में निमग्न हो गई तो अष्टावक्र अपने आसन से उठकर श्वेतकेतु के समीप पहुँचे और उन्हें जगाकर बताया—'मातुल ! हम लोग आज तक भ्रम में रहे। आप मुझसे बड़े हैं, मेरी माता के सहोदर हैं, अतः मेरे पूज्य हैं। जो कुछ मुझसे त्रुटियाँ हुई हों, उन्हें क्षमा करें।'

श्वेतकेतु अष्टावक्र के अपमान से स्वयं चिन्तित थे। अष्टावक्र की इस विनम्रता से युक्त वाणी ने उन्हें द्रवित कर दिया। नेत्रों से आँसू गिराते हुए उन्होंने झपट कर अष्टावक्र को अपनी गोद में उठा लिया और गद्‌गद् वाणी में बोले—'भागिनेय ! मैंने स्वयं तुम्हारा चित्त दुःखी किया है। आज दिन भर तुमने कुछ खाया-पिया नहीं—यह जानकर मैंने भी अन्न-जल नहीं ग्रहण किया है। तुम्हें जो कुछ कष्ट पहुँचा है उसके लिए मैं हृदय से दुःखी हूँ और क्षमा-प्रार्थी हूँ।' इस प्रकार थोड़ी ही देर में दोनों बालमित्रों का पारस्परिक मनोमालिन्य आँसुओं की पवित्र धारा में धुलकर स्वच्छ हो गया और वे पुनः नूतन उत्साह और निष्ठा से पूर्ववत् एक दूसरे के सच्चे हितैषी बन गए। थोड़ी देर तक वहाँ स्तब्धता छाई रही और तदनन्तर विशुद्ध पारस्परिक प्रेम का वह अजस्र प्रवाह द्विगुणित वेग से पुनः चालू हो गया।

कुछ क्षण बाद वार्तालाप के प्रसंग में ही अष्टावक्र ने श्वेतकेतु से मिथिलापति महाराज जनक के दरबार में चलने की बात चलाते हुए कहा—'सुना है, मिथिलेश जनक ने एक ऐसा महान यज्ञ आरम्भ किया है, जो बारह वर्षों से अनवरत चल रहा है और जिसमें अनेक देश-देशान्तर के विद्वान् और पण्डित एकत्र हुए हैं। उनमें परस्पर खूब शास्त्र-चर्चा होती है। अच्छा होगा कि हम लोग भी चलकर उस यज्ञ समारोह का अवलोकन करें। वहाँ ब्राह्मणों के लिए भोजनादि की सब प्रकार से सुखकर व्यवस्था है। वहाँ चलने से हम लोगों का बड़ा लाभ होगा।' अष्टावक्र की ये लुभावनी बातें श्वेतकेतु के हृदय में बस गईं। फिर तो परदेश के दर्शन-

लोभी वे दोनों बालक पण्डित महर्षि उद्दालक की अनुज्ञा प्राप्त किए बिना ही मिथिला को जाने वाले राजमार्ग पर चुपचाप चल पड़े। उनका अदम्य उत्साह ही उनका सम्बल था और उनकी निष्कलुष विद्या, प्रतिभा और साधना ही उनकी शक्ति थी।

× × ×

मिथिला के राजमार्ग पर आगे बढ़ते हुए राजधानी के बहुत पहले ही अष्टावक्र और श्वेतकेतु की भेंट संयोगात् राजा जनक के सैनिकों से हो गई, जो राजा के रथ को निर्बाध करने के लिए दूर ही राजमार्ग को जनशून्य बना रहे थे। राजा के साथ उनकी अंगरक्षक वाहिनी थी। सैकड़ों रथ थे। और उतने ही गजारोही तथा अश्वारोही भी थे। राजमार्ग के संकुलित रहने पर राजा के रथ को रुकना पड़ता अतः रथ के निकलने के आधी घड़ी पूर्व से ही राजमार्ग पर सामान्य लोगों का चलना-फिरना बन्द किया जा रहा था। अष्टावक्र शरीर से लुंज-पुंज तो थे ही, किसी प्रकार श्वेतकेतु के सहारे से राजमार्ग पर आगे बढ़ रहे थे कि इसी बीच राजा के सैनिकों ने उन्हें राजमार्ग छोड़कर दूर हट जाने का सैनिक-सुलभ आदेश दिया। सैनिकों के आदेश की वह भाषा बालकों के लिए थी, अतः उसमें अपमान की मात्रा कुछ अधिक थी। अष्टावक्र के कोमल कान ऐसी कटु और अपमानजनक भाषा सुनने के अभ्यासी नहीं थे। सैनिकों को स्तब्ध करते हुए उन्होंने मेघ गर्जन के समान भयंकर स्वर में अपमान प्रकट करते हुए कहा—'नीच सैनिको! क्या तुम्हें बोलने का भी ढंग नहीं ज्ञात है, जो ब्राह्मण-कुमारों—विशेषकर वेदों और शास्त्रों के पण्डितों के लिए ऐसी नीच जनोचित भाषा का प्रयोग कर रहे हो। मैं समझता हूँ, तुम सब किसी अशिक्षित और असंस्कृत राजा के शासन में रहते हो, अन्यथा इस प्रकार की तुम्हारी मूर्खता और उद्दण्डता को कौन सहन कर सकता है?'

अष्टावक्र की वज्र-निर्घोष के समान कठोर किन्तु सीधी वाणी सैनिकों के हृदय में चुभ गई। उन्होंने विस्फारित नेत्रों से सकुतूहल अष्टावक्र की ओर तिरस्कारपूर्ण भाव से देखा किन्तु अष्टावक्र कब के सहन करने वाले

थे। उन्होंने अपनी कठोर वाणी का चमत्कार पुनः प्रकट करते हुए उनके बोलने के पूर्व ही कहा—

'नीच राजपुरुषो! यह राजमार्ग सामान्य जनता का है, इस पर सब को चलने का समान अधिकार है। आखिरकार हमें इससे दूर भगाने का तुम लोगों को क्या अधिकार है?'

राजा के सैनिक अब तक हतप्रभ हो चुके थे। इन तेजस्वी बालकों के भीतर विराजमान ब्रह्म और विद्या के जाज्वल्यमान तेज की आभा का उन्हें अनुमान हो चुका था। उनका राजमद दूर हो गया था। कुछ देर तक चुप रहकर विनय भरी वाणी में सैनिकों के यूथपति ने उनसे कहा—'तेजस्वी कुमार! हमारे सम्राट महाराज जनक का रथ अपने दल बल के साथ इसी ओर आ रहा है। बड़ी भीड़ है। आप लोग मध्य राजमार्ग से हटकर यदि दूर नहीं हो जाते तो कदाचित् निरर्गल गजराजों, अश्वों, सैनिकों और रथों की धक्का-धुक्की में आपको कहीं चोट न लग जाय? इसी से दूर हटने की प्रार्थना की जा रही है। आप अन्यथा न मानें।'

अष्टावक्र ने कहा—'सैनिको! शास्त्र की यह मर्यादा है कि मार्ग में यदि अन्धा मिल जाय तो सामान्य जनता उसके लिए मार्ग छोड़ दे। इसी प्रकार बधिर, स्त्री, बोझ ढोने वाले तथा राजा के लिए भी मार्ग छोड़कर हट जाने की व्यवस्था दी गई है। किन्तु साथ ही यह भी व्यवस्था है कि यदि मार्ग में विद्वान् ब्राह्मण मिल जाय तो सबसे पहले उसी को मार्ग देना चाहिए। हम दोनों सम्पूर्ण वेदों और शास्त्रों का सम्यक् अध्ययन कर चुके हैं और मिथिला में पण्डितद्वेषी बन्दी को पराजित करने के लिए आ रहे हैं। तुम्हारे राजा के लिए यही उचित है कि वे हम लोगों के लिये यह राजमार्ग छोड़ दें और दूसरे मार्ग से जायँ।'

सैनिक-वृन्द कुछ सोच-विचार कर ही रहे थे कि इसी बीच राजा जनक सदल बल उस स्थल पर आ पहुँचे, जहाँ अष्टावक्र और श्वेतकेतु से उन सैनिकों की वार्ता चल रही थी। एक सैनिक ने आगे बढ़कर राजा से उन दोनों बालक पण्डितों की बातें बता दीं और यह भी कह दिया कि—

'महाराज ! यह विकृत अंगों वाला बालक अत्यन्त क्रोधी और तेजस्वी मालूम पड़ता है ।'

सैनिक राजा को यह बात बता ही रहे थे कि तब तक अष्टावक्र की कठोर वाणी पुनः सुनाई पड़ी । वह कह रहे थे—'जिस राजा के शासन में शास्त्रों का आदर नहीं होता, विद्वानों का सम्मान नहीं होता उसे समझ लेना चाहिए कि वह अधम है और उसके सभी यज्ञ, तप, साधन व्यर्थ हैं । सैकड़ों अश्वमेध और राजसूय भी उसका कल्याण नहीं कर सकते ।'

राजा जनक ने अष्टावक्र की इस मर्मभेदिनी वाणी को सुनते ही रथ से नीचे उतर कर उनके प्रति सम्मान का भाव प्रकट किया और विनय तथा पश्चात्ताप के धीमे स्वर में कहा—'महापुरुष ! मेरे अनुचरों की अवज्ञा क्षमा हो । मैं स्वयं आपके लिए इस राजमार्ग का परित्याग करता हूँ । आपकी इच्छा जिस मार्ग से जाने की हो उससे जा सकते हैं । अग्नि का स्फुलिंग कभी लघु होने पर भी अवहेलनीय नहीं होता । देवराज इन्द्र भी सदा ब्राह्मणों के सम्मुख मस्तक झुकाते हैं तो मेरी शक्ति ही क्या है ? मैं आप लोगों का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ ।'

अष्टावक्र बोले—'राजन् ! आपको इस सद्विचार के लिए मैं साधुवाद देता हूँ । हम दोनों आपके महान् यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए यहाँ आए हैं । आपका कल्याण हो ।'

राजा जनक ने इन दोनों तेजस्वी ऋषिकुमारों का स्वागत किया और उनसे यज्ञ में सम्मिलित होने की प्रार्थना कर अपना मार्ग बदल कर अन्य मार्ग से सदलबल राज भवन को प्रस्थान किया ।

× × ×

दूसरे दिन अष्टावक्र अपने मातुल श्वेतकेतु के साथ राजा के यज्ञ-मण्डप के प्रवेश-द्वार पर जब पहुँचे तब द्वारपाल ने उन्हें भीतर प्रविष्ट होने से रोक दिया । उसने कहा—'मुनिकुमार । इस महान यज्ञ में वही विद्वान ब्राह्मण प्रविष्ट हो सकते हैं जिनके लिए हमारे आचार्य बन्दी की आज्ञा होगी । आप लोग

वय से भी अभी बहुत छोटे हैं अतः आप लोगों को यज्ञमण्डप में प्रवेश की अनुमति तो यों भी नहीं दी जा सकती।'

द्वारपाल की ये बातें अष्टावक्र के लिए असह्य हो गईं। उन्होंने बड़े तीव्र स्वर में अपमान के लहजे में कहा—'नीच द्वारपाल! तुम्हें इस बात का क्या पता है कि हम लोग कौन हैं? और हम विद्वान हैं या मूर्ख? बिना हमारी विद्या और प्रतिभा का परिचय प्राप्त किए तुमने ऐसी अपमानजनक बातें कैसे कह दीं? मैं तुम्हारे आचार्य बन्दी को पराजित करने के लिए ही यहाँ आया हूँ। उस पण्डितकुलद्वेषी ने अनेक विद्वान् ब्राह्मणों को जलसमाधि देकर जो ब्रह्महत्या का कठोर पातक किया है, उसका कुफल उसे आज स्वयं भोगना पड़ेगा। तुम शीघ्र ही जाकर बन्दी को मेरी यह घोषणा सुना दो कि आज उसे मेरे साथ अपने पाण्डित्य की परीक्षा देनी ही होगी।'

अष्टावक्र की वाणी इतनी कर्णकटु तथा चित्तोद्वेजक थी कि द्वारपाल पूरी बातें भी नहीं सुन सका। बीच में ही उसने अष्टावक्र से धीमे स्वर में बातें करने का सविनय आग्रह किया। किन्तु अष्टावक्र में इतनी क्षमता कहाँ थी। अपने पूज्य पिता के हत्यारे से बदला चुकाने के लिए वह विकल हो रहे थे। द्वारपाल को बीच में ही रोकते हुए वह प्रबुद्ध स्वर में पुनः गरज उठे।

'नीच द्वारपाल! मुझे शिष्टाचार की शिक्षा देने का अपराध करके तुम भी अपने कुकृत्यों का परिणाम भोगना चाहते हो, तो बोलो। अन्यथा चुपचाप जाकर अपने आचार्य बंदी को बुला लाओ। मैं उसी ब्रह्म-हत्यारे से वार्ता करके उसके पापी जीवन का उद्धार करने के लिए यहाँ आया हूँ।'

अष्टावक्र की यह अपमानजनक घोषणा क्षण भर में ही सम्पूर्ण राजसभा में फैल गई। राजा जनक और उनकी सभा में उपस्थित राजकुल एवं विद्वत्परिषद् में भी इसकी चर्चा चलने लगी। उधर आचार्य बंदी ने द्वारपाल से यह कहला भेजा कि उन दोनों अनुभवहीन ब्राह्मणकुमारों से

कह दो कि—'वे भोजनादि से निवृत्त हो लें अन्यथा भूखे-मांदे परलोक की लम्बी यात्रा करने में उन्हें असह्य वेदना होगी।'

द्वारपाल से बंदी का व्यंग्यपूर्ण संदेश पाकर अष्टावक्र का क्रोध और भी प्रबुद्ध हो गया। उन्होंने कहला भेजा कि—'बंदी से जाकर कह दो कि बिना उस पापात्मा को पराजित किए इस अधम मिथिलापुरी में भोजन ग्रहण करना तो दूर, जल भी नहीं ग्रहण करूँगा।'

निदान भरी राज सभा में मिथिला के आचार्य बन्दी के साथ कहोड़ के पुत्र अष्टावक्र के शास्त्रार्थ का आयोजन उसी दिन रचा गया। स्वयं राजा जनक उसके मध्यस्थ हुए और सुनने के लिए यज्ञ समारोह में उपस्थित समस्त विद्वन्मण्डली एवं राजसभा एकत्र हो उठी। विश्वविख्यात बन्दी के इस बालक प्रतिद्वन्द्वी को देखने के लिए शास्त्रार्थ मण्डप के चतुर्दिक अगणित दर्शनार्थियों की भीड़ भी एकत्र हो गई। क्योंकि उस परम तेजस्वी टूटे-फूटे अंगों वाले बालक की धृष्ठता तथा निर्भीक विद्वत्ता की चर्चा, शास्त्रीय चर्चा में अभिरुचि रखने वाले मिथिलानिवासियों में क्षण भर में ही फैल चुकी थी। शास्त्रार्थ का यह रोमांचकारी अवसर आचार्य बन्दी के जीवन में प्रथम बार आया था। अब तक के किसी भी शास्त्रार्थ में इतनी भीड़ भाड़ तथा इतनी उत्तेजना नहीं देखी गई थी। स्वयं महाराज जनक भी चिन्तित हो गए थे और अपने भीतर बन्दी का हृदय भी विकम्पित था। वह परम निर्भीक और प्रचण्ड तेजस्वी बालक उन्हें कालरूप में दिखाई पड़ रहा था। चतुर्दिक निस्तब्धता थी और सभी लोग उत्कण्ठित हृदय से आगे होने वाली घटना की प्रतीक्षा में थे। बाहर से अपनी मर्यादा की रक्षा करते हुए राजा जनक ने भरी सभा में अष्टावक्र को सम्बोधित करते हुये कहा—'ब्राह्मण कुमार! आपकी तेजस्विता का परिचय हमें कल ही मिल चुका है किन्तु आज आपके इस कठोर निर्णय ने मुझे संकट में डाल दिया है कि आप हमारे आचार्य बन्दी को शास्त्रार्थ में पराजित करना चाहते हैं। हमें खेद है कि आचार्य की विद्या और तर्कशक्ति का परिचय पाए बिना ही आपने उनसे शास्त्रार्थ करने की प्राणघाती घोषणा

क्यों कर दी ? आज तक न जाने कितने ज्ञानोन्मत्त विद्वान ब्राह्मण आचार्य बन्दी को पराजित करने की अभिलाषा लेकर यहाँ आए किन्तु इन के समीप पहुँचते ही उनका प्रभाव नष्ट हो गया है। कितने तो पराजित और तिरस्कृत होकर सभा से निकाल दिए गए हैं और कितनों को अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा है। आपने यह दुःखदायी घोषणा यदि अपनी बालसुलभ चंचलता से प्रेरित होकर कर दी है तो मैं अब भी आप लोगों का इसके अपराध से क्षमा दे सकता हूँ क्योंकि आप लोगों जैसे तेजस्वी और निर्भीक ब्राह्मण कुमार को अनायास ही प्राण गंवाने की सम्मति मैं नहीं दे सकता।'

अष्टावक्र में राजा की यह अपमान भरी वाणी सुनने की क्षमता नहीं थी। वे प्रबुद्ध स्वर में अपमान प्रकट करते हुए बोले—'राजन्! मैं ऐसा मानता हूँ कि बन्दी की कुबुद्धि ने तुम्हें भी विवेकशून्य बना दिया है। अभी बन्दी को और तुम्हें हम जैसे विद्वान् ब्राह्मणों के साथ शास्त्रार्थ करने का अवसर नहीं मिला है इसीलिए वह सिंह बना हुआ है और तुम उसे विश्व-विजेता विद्वान् मान बैठे हो। अभी तुम्हें पता चलेगा कि यह कितना बड़ा विद्वान् है। मेरे सम्मुख उसकी तर्कशक्ति और विद्या का प्रभाव कुण्ठित हो जायगा। और उसकी समग्र विद्या टूटी हुई पहियों वाली शकट के समान एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकेगी।'

अष्टावक्र की इस प्रगल्भ वाणी को सुनकर सारी राजसभा स्तब्ध हो गई। तब राजा जनक ने अष्टावक्र की परीक्षा लेने के लिए उनसे पूछा—'ऋषि कुमार! जो विद्वान् पुरुष तीस अवयव, बारह अंश, चौबीस पर्व और तीन सौ आठ अरों वाले पहिये को पहचानता है वही हमारे आचार्य बन्दी से शास्त्रार्थ की क्षमता रखता है।'

अष्टावक्र ने अवज्ञा के स्वर में मुस्कराते हुए कहा—'राजन्! जिस कालचक्र में बारह आमावस्या और बारह पूर्णिमा रूपी चौबीस पर्व और छः ऋतु रूपी नाभि, बारह मास रूपी बारह अंश और दिनरात रूपी तीन सौ साठ अरे हैं वही निरन्तर गतिशील संवत्सर रूपी पहिया आपकी रक्षा करे।'

राजा जनक अष्टावक्र की चामत्कारिक बुद्धि का प्रभाव देखकर

विस्मय में डूब गये। किन्तु उन्होंने फिर पूछा—'ऋषिकुमार। मैं जानना चाहता हूँ कि सोते समय भी कौन आँखें नहीं मूँदता, जन्म लेने के बाद किसमें गति नहीं होती, किसके पास अपना हृदय नहीं होता और कौन वेग से बढ़ता है ?'

अष्टावक्र ने बिना कुछ सोचे ही उत्तर दिया—'राजन्। क्या मुझे यह भी ज्ञात नहीं कि मछली सोते समय भी अपनी आँखें नहीं मूंदती, पक्षी का अंडा उत्पन्न होने के बाद गतिहीन रहता है, पाषण के पास अपना हृदय नहीं होता और नदी वेग से बढ़ती है।'

राजा जनक के साथ शास्त्रार्थ-मण्डप में उपस्थित सभी व्यक्ति अष्टावक्र की प्रखर प्रतिमा का यह चमत्कार देखकर चकित रह गए। सब को यह विश्वास हो गया कि इस दैवी शक्ति सम्पन्न बालक द्वारा बन्दी के पराजित होने का अवसर अब आ गया है। तदनन्तर अष्टावक्र ने बन्दी को सम्बोधित करते हुये यह निर्भीक घोषणा भरी राजसभा में फिर से दुहरा दी।

'अपने को प्रकाण्ड पण्डित एवं अतिवादी मानने वाले दुरभिमानी बन्दिन्। तूने अपनी विद्या के दुरभिमान में भीषण पाप किए हैं। अनेक पण्डितों को पराजित कर तूने पानी में डूबो दिया है किन्तु आज तुम्हारी वाणी मौन हो जायगी और तुम्हें अपने कुकर्मों का फल मिलेगा। जैसे प्रलयकाल में अग्नि के प्रज्वलित होने से नदियों का प्रवाह सूख जाता है उसी प्रकार तुम्हारे विनाश के इस अवसर पर मेरे सम्मुख आज तुम्हारी विद्या, प्रतिभा और वक्तृत्वशक्ति का स्रोत सूख जायगा। अब तुम सम्हल कर बैठ जाओ। मेरे पूज्य पिता को जल में डुबोकर तुमने जो महान् पाप किया है उसका बदला चुकाए बिना मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता।'

अष्टावक्र की यह भयङ्कर गर्जना सुनकर बन्दी मुस्कराते हुए बोला—'दुरभिमानी बालक। पण्डित लोग कार्य करने के पूर्व उसकी प्रशंसा नहीं किया करते। तुम व्यर्थ के बकवास में अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों कर रहे हो ? जो कुछ तुम्हारा पाण्डित्य है उसकी परीक्षा अभी होने जा रही है। मुझे तुम्हारी शर्त स्वीकार है। इसकी घोषणा तो मैं बहुत दिन पूर्व ही कर चुका

हूँ कि जिस दिन कोई भी पण्डित मुझे पराजित कर देगा उसी दिन मैं अपना शरीर त्याग कर दूँगा किन्तु मुझे तुम्हारे बाल्यकाल का खेद है। अभी तुम्हें संसार में विशेष अनुभव प्राप्त करने की आवश्यकता थी, किन्तु तुम अपने प्रारब्धवश सोते हुये सिंह को जगा रहे हो। अनेक दुर्वचन बोलकर तुमने मेरा जो अपमान किया है उसका परिणाम तुम्हें अभी मिलने जा रहा है। जो मूर्ख अपने थपेड़ों से पर्वत को गिराने की चेष्टा करता है, उसका हाथ और नख अवश्य ही विदीर्ण होता है, पर्वत का तो वह कुछ नहीं बिगाड़ सकता।'

तदनन्तर राजा जनक की मध्यस्थता से परस्पर आरोप-प्रत्यारोप की चर्चा समाप्त हो गई और अष्टावक्र के अनुरोध से बन्दी ने भी उनसे कुछ प्रश्न किए। वे प्रश्न ऐसे जटिल, गूढ तथा दुर्गम थे कि उन्हीं का उत्तर न दे सकने के कारण अनेक पण्डितों को जल-समाधि दी जा चुकी थी। किन्तु विधि का विधान कुछ दूसरा ही था। अष्टावक्र ने भरी राजसभा में बन्दी के उन गूढ प्रश्नों का इतनी शीघ्रता और सरलता से उत्तर दिया कि राजा जनक समेत समूची सभा धन्य-धन्य करने लगी। पुष्पवृष्टि और जयजयकार होने लगा। बन्दी के ऐसे प्रश्नों की संख्या सीमित थी। जब उसने अपने सभी प्रश्न समाप्त कर दिए और अष्टावक्र ने उन सब का बहुत सटीक और सरल उत्तर दे दिया तब प्रतिज्ञा के अनुसार अष्टावक्र ने बंदी से कुछ प्रश्न पूछे। बंदी इतना हतप्रभ हो चुका था कि उसे अष्टावक्र के प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं सुझाई पड़ा। अधूरी बात बोल कर वह रुक गया। और जब बड़ी देर तक सभा में निस्तब्धता ही छाई रही तो राजा जनक के अनुरोध से अष्टावक्र ने अपने उन प्रश्नों का विधिवत् समाधान कर बंदी को अत्यन्त लज्जित किया। राजसभा में कुतूहल और भय का अद्भुत आंतक व्याप्त हो गया। राजा जनक अपनी राजसभा के उस परम सम्मानित पण्डित की यह दुर्दशा देखकर जितने दुःखी और लज्जित थे उतना ही उन्हें अष्टावक्र की अल्पवय में ही इस प्रकार की कुशाग्र बुद्धि एवं गहन अध्ययन को देख कर कुतूहल भी हो रहा था। जब बड़ी देर तक बन्दी चुप रहा और अष्टा-

वक्र भी चुप रहे तब सभा में चारों ओर से भीषण कोलाहल मच गया। अनेक पण्डितों के पापघाती बंदी के इस पराजय का अभिनन्दन करते हुये पारिषदों ने आवाज लगाई कि—'महाराज! अब बंदी को जल समाधि देने का तत्काल प्रबन्ध किया जाए और अष्टावक्र जैसे विश्वविजयी विद्वान् को राजपण्डित की उपाधि से विभूषित किया जाय।'

राज सभा के इस कोलाहल के बीच ही बन्दी अपने आसन से उठ कर खड़ा हो गया और उसने अष्टावक्र की प्रशंसा करते हुए राजा जनक से कहा—'महाराज। मैं बालक अष्ट्रावक्र का उनमें विश्वविजयी पाण्डित्य के कारण अभिनन्दन करता हूँ। सचमुच वे विद्या और प्रतिभा के भाण्डार हैं। आप उनका राजपण्डित के सम्माननीय पद पर अभिषेचन तथा मुझे जल समाधि द्वारा अपने पूज्य पिता से भेंट कराने का आयोजन शीघ्र करें। मैं चिरकाल से इस पृथ्वी पर आकर बहुत दुःखी था, मुझे शीघ्र ही मेरे पूज्य पिता वरुण के लोक में भेजने का आप प्रबन्ध करें।'

बन्दी की यह आश्चर्य भरी वाणी सुनकर राजा जनक स्तम्भित रह गए और भरी राजसभा में बन्दी को अपने भाषण का तात्पर्य समझाने का आग्रह होने लगा। तब बन्दी ने प्रसन्नता के अतिरेक से मुस्कराते हुए गद्गद् वाणी में यह कहा—

'महाराज! मेरे अपराध क्षमा करें। मैं जल के अधिदेवता वरुण का पुत्र हूँ। मेरे पूज्य पिता वरुणदेव एक द्वादशवर्ष-व्यापी दीर्घ यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहते थे, जिसके लिए उन्हें अच्छे-अच्छे पंडितों की अवश्यकता थी। उसी के लिए कुछ चुने हुए विद्वानों को भेजने का कार्य देकर मुझे आपकी सेवा में भेजा गया था। आपकी सभा में आने वाले वे सभी पंडित जिन्हें मुझसे शास्त्रार्थ में पराजित होने के कारण जल समाधि दी गई है, मेरे पिता के उक्त यज्ञ में सम्मिलित हैं। वह यज्ञ पूरा हो चुका है और अब वे सब धरती पर वापस लौटने वाले हैं। मुझे भी अपने पिता से मिले हुए बारह वर्ष से अधिक बीत चुके हैं अतः कृपाकर मुझे जलसमाधि देने का प्रबन्ध आप शीघ्र करा दें।'

अष्टावक्र कुछ कहने ही जा रहे थे कि राजा जनक की उस सभा में बारह वर्षों के पूर्व बन्दी से शास्त्रार्थ में पराजित होने वाले वे सभी पंडित उसी जलाशय से बाहर निकलते हुए दिखाई पड़े, जिनमें उन्हें पहले जल समाधि दी जा चुकी थी। उन्हीं पंडितों में अष्टावक्र के पूज्य पिता कहोड़ भी थे। उन सब को एक संग देखकर राजा जनक की विद्वत्सभा हर्ष से उन्मत्त होकर जय-जयकार करने लगी और वे सभी आगन्तुक पंडित स्वस्त्ययन का मंगल पाठ करने लगे।

कुछ देर बाद जब लोग कुछ शान्त हुए तब राजा और सभा से अनुमति प्राप्त कर बन्दी ने उन सभी पंडितों से अपने अपराधों की क्षमायाचना की और फिर सब के देखते ही देखते सरोवर की उस अगाध जलराशि में ऐसी डुबकी लगाई कि फिर उसका पता भी नहीं लगा।

तदनन्तर राजा जनक ने अपनी पूर्व सभा में पराजित उन समस्त पण्डितों का समारोहपूर्वक अभिनन्दन किया और उन्हें विविध वस्त्राभूषण, धन-धान्य और धेनु देकर विदा किया। महर्षि कहोड़ का अपने पुत्र अष्टावक्र से जब परिचय कराया गया और बन्दी को शास्त्रार्थ में पराजित करने की बातें बतलाई गईं तो वे हर्ष से फूले नहीं समाये। अपनी अमोघ तपस्या और साधना के प्रभाव से उन्होंने अष्टावक्र के मङ्गल की कामना करते हुए उन्हें गले लगा लिया। अष्टावक्र ने अपने पूज्य पिता की विधिवत् पूजा की और स्वयं भी राजा जनक एवं उनकी विद्वत्सभा द्वारा परम सम्मान और अभिनंदन प्राप्त किया।

इस प्रकार बंदी पर विजय प्राप्त कर अष्टावक्र अपने मामा श्वेतकेतु तथा पिता कहोड़ के साथ जब अपने आश्रम को वापस लौटे तो महर्षि उद्दालक का वह आश्रम पुनः अपार हर्ष और उल्लास से भर गया। महर्षि उद्दालक, उनकी पत्नी तथा पुत्री सुजाता के समान ही प्रत्येक सुनने वाले ने इस अमृत-तुल्य संवाद का स्वागत किया। तदनन्तर महर्षि उद्दालक और कहोड़ के तपः प्रभाव से अष्टावक्र के अंगों की दुर्बलता और शिथिलता भी समङ्गा नदी में स्नान करने के कारण दूर हो गई। उनकी अप्रतिम विद्या

और प्रतिभा के समान ही उनका अंग-प्रत्यंग भी दैवी-कांति से विमण्डित होकर चमकने लगा।

इस प्रकार अपनी विद्या और प्रतिभा के चमत्कारी प्रभाव से तेजस्वी ऋषिकुमार अष्टावक्र ने अपने और अपने गुरुजनों के जीवन को सब प्रकार से सुखी, शांत और सन्तुष्ट बनाया। और स्वल्प काल में ही उनकी कीर्ति कौमुदी समस्त भूमण्डल पर छा गई।